अध्ययन मण्डल

अध्यक्ष
कुलपति
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी
1.प्रो0 अरविंद के जोशी, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी (उत्तर प्रदेश)
2.प्रो0 बी.मोहन कुमार, जी.बी.पंत कृषि व प्रोद्योगिकी विश्वविद्यालय, पंतनगर, उत्तराखण्ड

संयोजक
निदेशक समाज विज्ञान विद्याशाखा

पाठ्यक्रम समन्वयक

डॉ0 दीपक पालीवाल, सहायक प्राध्यापक समाजशास्त्र, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

इकाई लेखन	इकाई संख्या
Dr.Anchlesh Kumar, Govt. P.G. Collage, Rudarpur	1,2,3,4
Dr.Ranjeeta Jauhari, Govt. P.G. Collage, Ramnagar Uttrakhand	5
Dr. Seema Srivatva PDF (Gorkhapur University)	6,7

संपादन

डॉ0 दीपक पालीवाल, सहायक प्राध्यापक समाजशास्त्र, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

कापीराइट @ उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय

प्रकाशन वर्ष- 2020

प्रकाशन- उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी- 263139

सर्वाधिक सुरक्षित। इस प्रकाशन का कोई भी अंश उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय,
हल्द्वानी MASO-610

सामाजिक मनोविज्ञान – II
SOCIAL PSYCHOLOGY -II

Block I	**Socialization and Development of Personality**	
Unit 1:	Concept & Process of Socialization समाजीकरण की अवधारणा एवं प्रक्रिया	पृष्ठ–1–15
Unit 2:	Agencies of Socialization and its Factors समाजीकरण के प्रमुख अभिकरण एवं इसके कारक	पृष्ठ–16–26
Unit 3:	Theories of Socialization: Durkheim, Cooley and Mead समाजीकरण के सिद्धांत : दुर्खीम, कुले और मीड	पृष्ठ–27–36
Unit 4:	Personality: Definitions, Types and Factors affecting personality and social Factors influencing personality व्यक्तित्व : परिभाषा, प्रकार एवं प्रभावित करने वाले कारक व सामाजिक कारक	पृष्ठ–37–51
Block II	**Social learning and Leadership**	
Unit 5:	Social Learning: Meaning, Definition, factors on the process of learning and Principles of Learning सामाजिक सीखने का अर्थ, परिभाषा, सीखने की प्रक्रिया को प्रभावित करने वाले कारक, सीखने के सिद्धांत	पृष्ठ–52–67
Unit 6:	Concept of Leadership, types and Characteristics नेतृत्व की समप्रत्यय, प्रकार व विशेषतायें	पृष्ठ–68–80
Unit 7:	Emerging Trends of Leadership नेतृत्व का उद्भव व तकनीकें	पृष्ठ–81–94

इकाई–1

समाजीकरण की अवधारणा एवं प्रक्रिया

इकाई की रूपरेखा

1.1 उद्देश्य

1.2 प्रस्तावना

1.3 समाजीकरण

1.4 अवधारणा

1.5 समाजीकरण का अर्थ एवं परिभाषा

1.6 समाजीकरण की विशेषताएँ

1.7 समाजीकरण की प्रक्रिया

1.8 समाजीकरण के विभिन्न स्तर या सोपान

1.9 सारांश

1.10 शब्दावली

1.11 अभ्यास हेतु प्रश्न एवं उत्तर

1.12 संदर्भ ग्रंथ सूची

1.13 सहायक/उपयोगी पाठ्यसामग्री

1.14 निबंधात्मक प्रश्न

1.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप समझ पायेंगे कि–

- वास्तविक रूप में समाजीकरण क्या है।
- समाजीकरण की प्रक्रिया क्या है तथा इसका महत्व कैसे निर्धारित होता है।
- समाजीकरण की अवधारणा तथा प्रक्रिया में क्या सम्बन्ध है।

1.2 प्रस्तावना

प्रकृति ने मानव व पशु के बीच कुछ अन्तर को बना रखा है और समाज एवं संस्कृति ने उस अंतर को इतना अधिक स्पष्ट बनाया है कि मानव अपने को सर्वश्रेष्ठ प्राणी के रूप में प्रतिष्ठित करने में सफल हुआ है। जन्म के समय मनुष्य न तो सामाजिक प्राणी होता है और न ही असामाजिक अपितु वह एक जैविकीय प्राणी के रूप में जन्म लेता है। अर्थात जन्म के समय उसमें तथा पशुओं के बच्चों में प्राणीशास्त्रीय आधार पर अन्तर अवश्य होता है परन्तु उसका स्वभाव एवं व्यवहार पशुओं की भाँति ही होता है। मानव शिशु जन्म के समय किसी भी मानव समाज में भाग लेने योग्य नहीं होता है। वह केवल एक प्राणीशास्त्रीय इकाई के रूप में इस संसार में आता है जो केवल रक्त, मांस एवं हड्डियों से बना एक जीवित पुतला मात्र होता है। उसमें किसी प्रकार के सामाजिक गुण नहीं होते। वह न तो सामाजिक होता है न असमाजिक और न समाज विरोधी ही। समाज के रीति–रिवाज़ों, प्रथाओं, मूल्यों एवं संस्कृति से वह अनभिज्ञ होता है।

1.3 समाजीकरण

समाजीकरण एक ऐसी प्रक्रिया है जो नवजात शिशु को सामाजिक प्राणी बनाती है। इस प्रक्रिया के अभाव में व्यक्ति सामाजिक प्राणी नहीं बन सकता है। इसी से सामाजिक व्यक्तित्व का विकास होता है। सामाजिक–सांस्कृतिक विरासत के तत्वों का परिचय भी इसी से प्राप्त होता है। समाजीकरण से न केवल मानव जीवत का प्रभाव अखण्ड व सत्त रहता है, वरन् इसी से मानवोचित गुणों का विकास होता है, और व्यक्ति सुसभ्य व सुसंस्कृत भी बनता है। इसलिए किम्बल यंग ने समाजीकरण को व्यक्ति के सामाजिक सांस्कृतिक श्रेत्र में प्रवेश करने की प्रक्रिया कहा है। इसी प्रक्रिया से व्यक्ति समूह के आदर्श–नियमों को सीखता है। सामाजीकरण नवजात शिशु को सामाजिक बनाने की एक प्रक्रिया है। बच्चे को सामाजिक मान्यताओं के बारे में अवगत कराना, समाज में रहना सिखाना तथा व्यक्तित्व का निर्माण करना ही समाजीकरण है।

1.4 अवधारणा

समाज में जन्म लेने के पश्चात् मनुष्य के बच्चे का समाज में ही पालन–पोषण होता है तथा समाज में रहकर ही वह बड़ा होता है। परिवार, पड़ोस, क्रीडा समूह, स्कूल, विवाह तथा धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक संसथाओं के द्वारा सामाजिक सीख एवं इनके साथ परस्पर अन्तःक्रिया के माध्यम से मानव शिशु की पाशविक प्रवृत्तियों का दमन करके उनमें मानवीय एवं सामाजिक गुण विकसित कर दिये जाते हैं अर्थात उसे मानव अथवा एक सामाजिक प्राणी बना दिया जाता है। सामाजिक सीख की इसी प्रक्रिया जिसके आधार पर मानव–शिशु को पशुता से मानवता की और लाया जाता है, को समाजीकरण की प्रक्रिया कहते है। मानव का व्यक्तित्व जन्म से ही पूर्ण नहीं होता। जन्म के समय उसके पास न भाषा होती है, न समझ, उसके न कोई विचार होते हैं, न विश्वास, वह न नियम जानता है, न संस्कृति, परन्तु सामाजिक सीख की लंबी प्रक्रिया और अनुभवों के द्वारा उनमें व्यक्तित्व संबंधी सामाजिक गुणों का विकास हो जाता है। परिवर्तन और संचरण की इसी प्रक्रिया को बनाने की प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया का प्रमुख उद्देश्य व्यक्ति को सामाजिक एवं योग्य प्राणी बनाना है ताकि वह अपनी प्रस्थिति एवं भूमिका के अनुरूप कार्य कर सके। समाजीकरण के द्वारा ही व्यक्ति में 'अहम' का विकास होता है, आदर्श नियमों का आत्मसात होता है और संस्कृति एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में हस्तान्तरित होती है।

1.5 समाजीकरण का अर्थ एवं परिभाषा

समाजशास्त्र में समाजीकरण नामक शब्द का प्रयोग उन प्रक्रियाओं के लिए किया जाता है जिनके द्वारा व्यक्ति को सामाजिक–सांस्कृतिक संसार से परिचित कराया जाता है। इस अर्थ में समाजीकरण वह विधि है जिनके द्वारा संस्कृति को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित किया जाता है। बच्चा जब जन्म लेता है तो वह केवल रक्त, मांस, हड्डी का एक जीवित पुतला होता है। इस समय उसमें कोई सामाजिक गुण नहीं पाया जाता है और न ही समाज विरोधी गुण पाया जाता है। इस समय वह एक प्राणीशास्त्रीय गुणों वाला एक जीवित प्राणी होता है। फिर समाज और संस्कृति के बीच पलते हुए वही धीरे–धीरे एक सामाजिक प्राणी में बदल जाता है, अर्थात उस प्राणीशास्त्रीय प्राणी में सामाजिक गुण या लक्षण स्पष्ट होने लगते हैं, वह अपनी सामाजिक परम्पराओं और रूढ़ियों के अनुसार व्यवहार करना सीख जाता है। इसके द्वारा वह अपने को पशु–जगत से अलग कर लेता है। इस प्रकार जिस प्रक्रिया के द्वारा कोई भी प्राणीशास्त्रीय प्राणी सामाजिक प्राणी में बदल जाता है उसे समाजीकरण कहते है। समाजीकरण से ही व्यक्ति मनुष्य बनता है, अपनी सामाजिक–सांस्कृतिक विरासत का सक्रिय हिस्सेदारी निभाता है, और अपने व्यक्तित्व का विकास करता है। इसके द्वारा व्यक्ति अपने समूह एवं समाज के मूल्यों, जनरीतियों, लोकाचारों, आदर्शों एवं सामाजिक उद्देश्यों को सीखता है। समाजीकरण की विभिन्न परिभाषाओं से यह बात और भी स्पष्ट हो जायेगी–

ग्रीन के शब्दों में ''समाजीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा बच्चा सांस्कृतिक विशेषताओं, आत्मपन और व्यक्तित्व को प्राप्त करता है।'' इस परिभाषा से स्पष्ट है कि समाजीकरण के द्वारा बच्चा संस्कृति की विशेषताओं को सीखता है, उसके अनुसार अपने आचरण को ढालता है और व्यक्तित्व का विकास करता है।

गिलिन और **गिलिन** लिखते है ''समाजीकरण से हमारा तात्पर्य उस प्रक्रिया से है जिसके द्वारा व्यक्ति, समूह में एक क्रियाशील सदस्य बनता है, समूह की कार्यविधियों से समन्वय स्थापित करता है, उसकी परम्पराओं का ध्यान रखता है और सामाजिक परिस्थितियों से अनुकूलन करके अपने साथियों के प्रति सहनशक्ति की भावना विकसित करता है।

किम्बाल यंग के अनुसार, ''समाजीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यक्ति सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में प्रवेश करता तथा समाज के विभिन्न समूहों का सदस्य बनता है और जिसके द्वारा उसे समाज के मूल्यों और मानकों को स्वीकार करने की प्रेरणा मिलती है।''

न्यूमेयर के अनुसार ''एक व्यक्ति के सामाजिक प्राणी के रूप में परिवतर्तित होने की प्रक्रिया का नाम ही समाजीकरण है।''

जॉनसन के अनुसार ''समाजीकरण सीखने की वह प्रक्रिया है जो सीखने वाले को सामाजिक भूमिकाओं का निर्वाह करने के योग्य बनाती है।''

स्टीवर्ट एवं ग्लिन के अनुसार ''सामाजीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा लोग अपनी संस्कृति के विश्वासों, अभिवृत्तियों, मूल्यों और प्रथाओं को ग्रहण करते हैं।''

फिचर के अनुसार ''समाजीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यक्ति सामाजिक व्यवहारों को स्वीकार करता है और उनसे अनुकूलन करना सीखता है।''

ब्रूम तथा सेल्जनिक के अनुसार, समाजीकरण के दो पूरक अर्थ हैं– ''संस्कृति का हस्तान्तरण और व्यक्तित्व का विकास'' इससे स्पष्ट है कि समाजीकरण द्वारा एक व्यक्ति अपनी संस्कृति को सीखता है, संस्कृति पुरानी पीढ़ी द्वारा नयी पीढ़ी को हस्तान्तरित होती है। संस्कृति को सीखने से ही बच्चे के व्यक्तित्व का विकास होता है।

टालकॉट पारसन्स ''व्यक्ति द्वारा सामाजिक मूल्यों को सीखने और उन्हें आन्तरीकृत करने को ही सामाजीकरण कहते है।''

हारालाम्बोस के अनुसार ''वह प्रक्रिया जिसके द्वारा व्यक्ति अपने समाज की संस्कृति को सीखता है, समाजीकरण के नाम से जानी जाती है।''

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि सामाजीकरण सीखने की एक प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यक्ति समूह अथवा समाज की सामाजिक–सांस्कृतिक विशेषताओं को ग्रहण करता है, अपने व्यक्तित्व का विकास करता है और समाज का क्रियाशील सदस्य बनता है। समाजीकरण द्वारा बच्चा सामाजिक प्रतिमानों को सीखकर उनके अनुसार आचरण करता है। इससे समाज में नियंत्रण बना रहता है। व्यक्ति को जन्म के साथ माता–पिता की कुछ शारीरिक तथा मानसिक विशेषतायें व लक्षण प्राप्त होते हैं, पर उस समय उसमें कोई भी मानवोचित या सामाजिक गुण नहीं होते। वह न बोल पाता है, न कपड़े पहन पाता है, न शिष्टाचार जानता है, और न ही उसके कोई मूल्य या आदर्श होते हैं, पर समाज और संस्कृति के बीच पलते हुये उसमें ये सभी गुण धीरे–धीरे पनपते हैं। वह उठने–बैठने, खाने–पीने, बोलने–चालने, दूसरों के साथ बात–व्यवहार करने तथा अन्य अनेक नियम, कानून, प्रथा, परम्परा और रीति–रिवाज को व्यवहार में लाने का ढंग सीख जाता है। उसे अपने–पराये का ज्ञान होता है, वह उचित और अनुचित में भेद कर लेता है, और अपने कर्तव्य के बारे में सचेत हो जाता है। संक्षेप में, उसमें सामाजिक जीवन में हिस्सेदार बनने की क्षमता का विकास हो जाता है, और एक सामाजिक प्राणी कहलाने के लिए उसमें आवश्यक गुण व लक्षण विकसित हो जाते हैं। इस प्रकार व्यक्ति के सामाजिक व्यक्तित्व का विकास सम्भव होता है। यानी जिस सम्पूर्ण प्रक्रिया के द्वारा प्राणीशास्त्रीय व्यक्ति इस भाँति एक सामाजिक मनुष्य में रूपान्तरित हो जाता है, उसे 'समाजीकरण' की प्रक्रिया कहते हैं।

1.6 समाजीकरण की विशेषताएँ

(i) सीखने की प्रक्रिया

समाजीकरण सीखने की एक प्रक्रिया है, किन्तु सभी प्रकार की बाते सीखना समाजीकरण नहीं है वरन् उन व्यवहारों को जो सामाजिक प्रतिमानों, मूल्यों एवं समाज द्वारा स्वीकृत है, को सीखना ही समाजीकरण है। उदाहरण के लिए एक व्यक्ति चोरी करना, कक्षा से भाग जाना व गाली देना आदि सीखता है तो उसे समाजीकरण नहीं कहेंगे क्योंकि ये क्रियाएँ समाज द्वारा स्वीकृत नहीं है और न ही इन्हें सीखकर व्यक्ति समाज का क्रियाशील सदस्य बनता है।

(ii)आजन्म प्रक्रिया

समाजीकरण की प्रक्रिया बच्चे के जन्म से लेकर मृत्यु तक चलने वाली प्रक्रिया है। बचपन से लेकर वृद्धावस्था तक वह अनेक प्रस्थितियाँ धारण करता है और उनके अनुसार अपनी भूमिकाओं का निर्वाह करना सीखता है। युवावस्था में वह पति, पिता, व्यवसायी, किसी संगठन में पदाधिकारी एवं अन्य अनेक पदों को ग्रहण करता है। वृद्धावस्था में दादा, नाना, श्वसुर, आदि

पद धारण करता है और इन सभी पदों के अनुरूप भूमिका निर्वाह करना सीखता है। इस प्रकार व्यक्ति के सामने नयी–नयी प्रस्थितियाँ एवं पद आते हैं और वह उनके अनुसार समाज द्वारा मान्य व्यवहारों को सीखता जाता है। इस प्रकार समाजीकरण की प्रक्रिया आजीवन चलती रहती है।

(iii) **समय व स्थान सापेक्ष**

समाजीकरण की प्रक्रिया समय व स्थान सापेक्ष है। समय सापेक्ष का अर्थ है कि दो भिन्न समयों में समाजीकरण की अर्न्तवस्तु अलग–अलग हो सकते हैं। उदाहरण के लिए, प्राचीन भारत में स्त्रियों को पर्दा व घूंघट रखना सिखाया जाता था, एक व्यक्ति को अपनी जाति के खान–पान के नियम से परिचित कराया जाता था, किन्तु वर्तमान समय में ये व्यवहार अपेक्षित नहीं है। इसी प्रकार से बड़ों का अभिवादन करने के लिए बच्चों को प्रणाम करना, टाटा, बाय–बाय, गुड नाइट, ओके, हैलो आदि शब्दों का प्रयोग करते हैं। समाजीकरण स्थान सापेक्ष भी है। इसका अर्थ यह है कि एक स्थान पर एक समाज में जो व्यवहार प्रशंसनीय माना जाता है। वहीं दूसरे समाज में निदंनीय भी माना जा सकता है। **डेविस** कहते है कि अफ्रीका की मसाई जनजाति में एक दूसरे के प्रति सम्मान प्रकट करने के लिए एक–दूसरे पर थूकना सिखाया जाता था, किन्तु यह व्यवहार भारत में अनुचित एवं निंदनीय माना जाता है।

(iv) संस्कृति को आत्मसात् करने की प्रक्रिया

इस प्रक्रिया के द्वारा एक व्यक्ति अपने सांस्कृतिक मूल्यों, मानकों एवं समाज स्वीकृत व्यवहारों को सीखता है तथा संस्कृति के भौतिक तथा अभौतिक तत्वों को आत्मसात् करता है। धीरे–धीरे संस्कृति व्यक्ति के व्यक्तित्व का अंग बन जाती है।

(v) समाज का प्रकार्यात्मक सदस्य बनने की प्रक्रिया

समाजीकरण की प्रक्रिया के द्वारा व्यक्ति सामाजिक कार्यों में भाग लेने योग्य बनता है। इसी के द्वारा वह प्राणीशास्त्रीय प्राणी से सामाजिक प्राणी में बदल जाता है। किसी पद पर रहकर किस परिस्थिति में कैसा व्यवहार करना चाहिए, यह सब सामाजिक सम्पर्क से ही सीखा जाता है। सम्पर्क से ही व्यक्ति लोगों की अपेक्षाओं के अनुरूप व्यवहार करना सीखता है। **हारालाम्बोस** कहते हैं कि समाजीकरण के अभाव में कोई मनुष्य समाज का सामान्य सदस्य नहीं बन सकता है।

(vi) 'आत्म' का विकास

समाजीकरण के द्वारा व्यक्ति के 'आत्म' का विकास होता है, व्यक्ति में अपने प्रति जागरूकता आती है और वह जानने लगता है कि दूसरे व्यक्ति उसके बारे में क्या सोचते हैं।

(vii) सांस्कृतिक हस्तान्तरण

समाजीकरण के द्वारा समूह अथवा समाज अपनी संस्कृति को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुँचाता है नयी पीढ़ी पुरानी पीढ़ी से संस्कृति ग्रहण करती है। **डेविस** कहते हैं कि हस्तान्तरण की इस प्रक्रिया के बिना समाज अपनी निरन्तरता नहीं रख सकता और न ही संस्कृति जीवित रह सकती है।

1.7 समाजीकरण की प्रक्रिया

क्या आपने कभी सोचा है कि प्रत्येक चूहा तैरना जानता है, जबकि प्रत्येक मानव तैरना नहीं जानता है। ऐसा क्यों है? चूहों को तैरना कौन सिखाता है? मानव को तैरना क्यों नहीं आता है? इन प्रश्नों का सम्बन्ध संस्कृति एवं समाजीकरण से है। पशु समाज संस्कृतिविहीन समाज माना जाता है तथा इनमें गुण वंशानुक्रमण के माध्यम से एक पीढ़ी द्वारा दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होते हैं। चूहे तैरना इसलिए जानते हैं क्योंकि उन्होंने तैरने का गुण जन्म से ही प्राप्त किया है। संस्कृति मानव समाज का एक अनुपम गुण है।

1.8 समाजीकरण के विभिन्न स्तर या सोपान

समाजीकरण एक क्रमिक एवं दीर्घकालीन प्रक्रिया है जो जन्म के कुछ दिन बाद से ही प्रारम्भ हो जाती है और जीवनपर्यन्त चलती है। शैशावस्था से लेकर प्रौढ़ावस्था तक समाजीकरण की सम्पूर्ण प्रक्रिया को *जॉनसन ने अपनी पुस्तक* **Sociology-A Systematic Introduction** में चार स्तरों में विभाजित किया है– मौखिक अवस्था, शौच अवस्था, गुप्तावस्था तथा किशोरावस्था।

क. मौखिक अवस्था– यह बच्चे के समाजीकरण की प्रथम अवस्था है। यह अवस्था जन्म से प्रारम्भ होकर लगभग एक–डेढ़ वर्ष की आयु तक चलती है। इस स्तर पर समाजीकरण की प्रक्रिया का लक्ष्य बच्चे की दूसरों पर मौखिक निर्भरता स्थापित करना है। जन्म के बाद सामाजिक संगत में आने पर बच्चा भूख, ठंड, गर्मी तथा अन्य असुविधाएँ अनुभव करता है। शिशु अपने भोजन के समय के प्रबन्ध में निश्चित अपेक्षाएँ बनाने लगता है और अपनी देखभाल की आवश्यकता के लिए संकेत देना सीखता हैं इस स्तर पर बच्चा सम्पूर्ण परिवार से देखभाल की आवश्यकता के लिए संकेत देना सीखता है। इस स्तर पर बच्चा सम्पूर्ण परिवार से सम्बन्धित न रहकर केवल अपनी माता से सम्बन्धित रहता है। वह स्वयं तथा अपनी माँ में बिल्कुल भी पृथक्ता का अनुभव नहीं करता। वह केवल यही जानता है कि वह और उसकी माँ मिले हुए हैं। इस स्थिति को **फ्रायड** ने प्राथमिक परिचय कहा हैं इस स्तर पर बच्चा भूख पर कुछ नियंत्रण रखना सीख जाता है और वह माता के साथ शारीरिक सम्पर्क से हल्के से आनन्द का अनुभव करता है।

गर्भ में भ्रूण, गर्म और आरामपूर्वक रहता हैं जन्म के समय शिशु प्रथम संकट का सामना करता है– उसे सांस लेनी होती है। उसे पेट भरने के लिए काफी श्रम करना पड़ता है, उसे सर्दी, गीलेपन और अन्य असुविधाओं से पीड़ा होती है। वह रोता चिल्लाता है। समाजीकरण का यह प्रथम चरण है जिसमें बच्चा मौखिक रूप से दूसरों पर निर्भर रहता है। बच्चा अपने भोजन के समय के बारे में निश्चित अपेक्षाएं बनाने लगता है और वह अपनी देखभाल के लिए संकेत देना सीखता है। शिशु अपना सुख–दुख मुंह के माध्यम से व मुंह के हाव–भाव से प्रकट करता है। इसीलिए इसे मौखिक अवस्था कहते हैं। इस अवस्था में बच्चा परिवार में अपनी माँ के अतिरिक्त और किसी को नहीं जानता। **पारसन्स** कहते है कि परिवार के अन्य सदस्यों के लिए, बच्चा एक 'सम्पदा' से थोड़ा ही अधिक होता है। पिता या परिवार का अन्य सदस्य माता के साथ–साथ बालक की देखभाल करने लगे तो भी भूमिका विभेद नहीं होता, वह भी माता की भूमिका निभाता है। इस अवस्था में बच्चा अपनी व अपनी माँ की भूमिका में अन्तर नहीं कर पाता। अतः वह अपनी माँ को पृथक नहीं समझता। माता और शिशु 'मिले हुए' रहते हैं। इस स्थिति को **फ्रायड** ने 'प्राथमिक परिचय' कहा है। इस अवस्था में बच्चा धीरे–धीरे भूख पर नियंत्रण करना सीखता है। उसे माँ के शारीरिक सम्पर्क से आनन्द अनुभव होने लगता है। इस सोपान की अवधि एक–डेढ़ वर्ष तक की होती है।

ख. शौच अवस्था– समाजीकरण की दूसरी अवस्था अर्थात् शौच अवस्था डेढ़ वर्ष से लेकर लगभग तीन वर्ष की आयु तक होती है। इस स्तर पर बच्चे से यह आशा की जाती है कि वह स्वयं को थोड़ा–बहुत संभाले तथा शौच सम्बन्धी क्रियाओं को सीखकर स्वयं सम्पन्न करे। इस स्तर पर बच्चा दो भूमिकाओं को अंतरीकृत करता है–एक अपनी और दूसरी अपनी माँ की भूमिका जिसे वह अपने से भिन्न समझने लगता हैं इस स्तर में बच्चा अपनी देखभाल के साथ–साथ प्यार भी पाता है और प्रत्युत्तर में वह प्यार देने भी लगता है। इस अवस्था में सबसे पहले बच्चे के सही एवं गलत व्यवहार में विभेद किया जाने लगता है। सही व्यवहार के लिए उसे प्यार मिलता है और गलत व्यवहार के लिए डांट अथवा दण्ड। इस प्रकार पुरस्कार एवं दण्ड की प्रक्रिया द्वारा बच्चे को सही व्यवहार करने को प्रेरित किया जाता है। इस प्रकार वह अपने पारिवारिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों को सीखने लगता है। उसमें अनुकरण की प्रवृत्ति जाग्रत हो जाती है। इस स्तर पर वह न केवल अपनी माँ से सम्बन्धित रहता है अपितु परिवार के अन्य सदस्यों के व्यवहार भी उसे प्रभावित करने लगते हैं। समाजीकरण का दूसरा स्तर विभिन्न प्रकार के परिवारों एवं समाजों में भिन्न–भिन्न आयु में प्रारम्भ होता है। अमरीकन समाज में यह अवस्था पहले वर्ष से प्रारम्भ होकर तीसरे वर्ष में समाप्त हो जाती है। हमारे समाज में यह डेढ़–दो वर्ष की आयु से प्रारम्भ होकर तीन–चार वर्ष की आयु तक चलती है। इस अवस्था में बच्चे से यह अपेक्षा की जाती है कि वह अपने आपको थोड़ा बहुत स्वंय सम्भाले। इस समय उसे शौच प्रशिक्षण दिया जाता है। बच्चे को कब और कहाँ शौच करना चाहिए, का उसे ज्ञान कराया जाता है। हाथ साफ करना, कपड़े मैले न करना, आदि की भी उसे शिक्षा दी जाती है। इस अवस्था में बच्चा अपनी और अपनी माँ की भूमिका को आन्तरीकृत करता हैं वह माँ से प्यार पाता है और उसे प्यार भी करता हैं सही व्यवहार करने पर उसे मां से प्यार मिलता है और गलत व्यवहार करने पर दण्ड। सभी समाजों में बच्चे को गलत व सही में भेद करना सिखाया जाता है। सही व्यवहार के लिए उसे पुरस्कृत एवं गलत के लिए दण्डित किया जाता है।

इस अवस्था में माँ की दोहरी भूमिका होती है। एक तरफ वह बच्चे को शीघ्र प्रशिक्षण देती है और दूसरी तरफ वह परिवार के सभी कार्यों में भी भाग लेती है। इस अवस्था में माँ बच्चे के लिए, 'एक साधक नेता' होती है क्योंकि बच्चे की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वह अभी भी मुख्य रू‍प से उत्तरदायी होती है। बालक इस प्रणाली में सहयोग और प्यार देकर भावात्मक योगदान देता है। इस अवस्था में बच्चा अपने परिवार व समाज के सामान्य मूल्यों से परिचित होता है। उनके अनुसार आचरण करता है और उसमें अनुकरण की प्रवृत्ति का उदय होता है। इस अवस्था में बच्चा परिवार के अन्य सदस्यों के सम्पर्क में आता है और उनके व्यवहार से प्रभावित होता है। सदस्यों द्वारा क्रोध, स्नेह, विरोध और सहयोग प्रदर्शित करने पर बच्चे में भी तनाव और प्रेम की स्थिति पैदा होती है। इसी अवस्था में बच्चे में व्यक्तित्व के विविध गुण उत्पन्न होते हैं।

समाजीकरण की यह अवस्था माँ व बच्चे दोनों के लिए असुखकर होती है। बच्चे को दूध छुड़ाते समय, शौच प्रशिक्षण देते समय तथा उसे कष्ट उठाते देखकर माँ को आनन्द नहीं मिलता। फिर भी उसके अन्तिम परिणामों को सोचकर वह अपने को सान्त्वना देती है। माता की दोहरी भूमिका होने के कारण वह कुछ हद तक बालक को परिवार के अन्य सदस्यों के दबाव से बचा पाती है और अपनी भावात्मक भूमिका निभाती है। इस अवस्था में बच्चा थोड़ा–बहुत बोलने व चलने–फिरने लगता है और उसके सामाजिक सम्बन्धों का विकास हो जाता है क्योंकि अब वह माँ के अतिरिक्त अन्य सदस्यों के भी सम्पर्क में आता है।

ग. **गुप्तावस्था–जॉनसन** के अनुसार समाजीकरण की तीसरी अवस्था प्रायः चौथे–पाँचवें वर्ष से प्रारम्भ होकर युवा हाने तक अर्थात् बारह–तेरह वर्ष की आयु तक रहती है। यह आयु अलग–अलग भी हो सकती है लेकिन गुप्तावस्था को विभाजक रेखा माना जा सकता है। इस स्तर पर बालक पूरे परिवार से सम्बन्धित रहता है। वह परिवार के सब सदस्यों की स्थिति एवं भूमिकाओं से परिचित रहता है। यद्यपि वह यौन–व्यवहार से पूर्ण परिचित नहीं होता लेकिन उसके अन्दर अव्यक्त रूप से यौन–भावना विकसित होने लगती है। इस स्तर पर उससे आशा की जाती है कि वह अपने लिंग के अनुसार व्यवहार करे। अतः लड़के और लड़कियाँ समाज द्वारा निश्चित पृथक–पृथक व्यवहार प्रतिमानों के अनुसार व्यवहार करने लगते हैं। इसके लिए कभी–कभी बच्चों पर दबाव डाले जाते हैं तथा अपने लिंग के अनुसार व्यवहार करने पर पुरस्कृत किया जाता है। इस अवस्था में जब बच्चा अपने लिंग के प्रति पूर्ण जागरूक हो जाता है तो विपरीत लिंग में उसकी रूचि बढ़ने लगती है।

घ. **किशोरावस्था–** समाजीकरण की प्रक्रिया की चौथी अवस्था किशोरावस्था सामान्यतः यौवनारम्भ के समय से प्रारम्भ होती है। समाजीकरण की इस अवस्था को सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना जाता है क्योंकि इस अवस्था में बालक एवं बालिकाएँ गंभीर तनावों का अनुभव करते हैं। किशोरावस्था के साथ–साथ बालक–बालिकाओं में जो शारीरिक परिवर्तन होने लगते हैं वे तनाव का कारण बनते हैं क्योंकि यदि यौन–क्रियाओं की पूर्ण छूट दे दी जाय तो कोई समस्या खड़ी नहीं होती लेकिन इस सम्बन्ध में उन्हें छूट न देकर उनके व्यवहारों पर नियंत्रण किया जाता है। अतः वे अधिकाधिक स्वतंत्रता की माँग करते हैं। इस समय बच्चों से यह आशा की जाती है कि वे अपने जीवन से सम्बन्धित आवश्यक निर्णय स्वंय लें। कई समाजों में किशोरों को जीवन–साथी का चुनाव स्वंय करना पड़ता है जबकि कुछ समाजों में बड़े–बूढ़ों द्वारा परम्परागत रूप से होता है। इसी प्रकार किशोरों को, विशेष रूप से पुरूषों को, अपना व्यवसाय स्वंय चुनना होता हैं इन निर्णयों के सम्बन्ध में भी समाज यह आशा करता है कि वे इन निर्णयों को लेते समय भी सांस्कृतिक मूल्यों को ध्यान में रखें। लेकिन चूँकि यह किशोरों की भावनाओं के प्रतिकूल होता है, अतः उनमें कुछ न कुछ मानसिक तनाव अवश्य बने रहते हैं। इसी स्तर पर बच्चों को अपने पड़ोसियों, खेल के साथियों, मित्रों, अध्यापकों आदि के विचारों एवं भावनाओं के साथ भी समायोजन करना पड़ता है। इस स्तर पर समाजीकरण की प्रक्रिया समाज के निषेधात्मक नियमों जो किसी संस्कृति में विशेष महत्व रखते हैं, से भी प्रभावित होती है। इस प्रकार विभिन्न तनावों एवं संघर्षों से जूझते हुए किशोर समाज के नियमों एवं निषेधों के अनुसार विभिन्न स्थितियों से समायोजन करना सीख जाते हैं। इस स्तर के अंतिम चरण में Super Ego अर्थात नैतिकता की भावना के दर्शन होने लगते हैं। किशोरावस्था जो कि प्रायः यौवनारम्भ के समय से शुरू होती है, एक ऐसी अवस्था है जिसमें युवा बालक अथवा बालिका अपने माता–पिता के नियन्त्रण से अधिकाधिक स्वतन्त्रता चाहते हैं, विशेष रूप से यौन सम्बन्धी गतिविधियों में। इस अवस्था में बालक के शरीर में कुछ स्पष्ट शारीरिक परिवर्तन होने लगते हैं।

यदि यौन–कर्म की पूरी छूट दी जाय तो कोई समस्या खड़ी नहीं होगी। किन्तु ऐसी छूट नहीं दी जाती है। इसलिए इन शारीरिक परिवर्तनों के कारण किशोर के मन में एक तरफ स्वतन्त्रता की कामना तीव्र होती जाती है और दूसरी तरफ वह स्वतन्त्रता से भयभीत होने लगता है।

किशोरावस्था भारी तनाव का काल है क्योंकि भावी व्यस्क को प्रायः स्वयं ही कई आवश्यक निर्णय लेने होते हैं, जैसे जीवन साथी का चुनाव और अपने व्यवसाय का चुनाव, आदि के निर्णय उसे स्वयं ही लेने हों तो उसके सामने दुविधा अवश्य आ जाती है क्योंकि उसके बाद उसे नयी स्थिति के अनुसार नये कार्य करने होते हैं। उससे यह भी अपेक्षा की जाती है कि वह निर्णय करते समय पारिवारिक परम्पराओं और सांस्कृतिक मूल्यों को ध्यान में रखे। किशोर पर लगाये गये इस प्रकार के नियन्त्रण उसके मनोभावों के प्रतिकूल होते हैं। अतः बच्चे को तनावों का शिकार होना पड़ता है। किशोरावस्था में बच्चा परिवार के अतिरिक्त पड़ोस, विद्यालय, खेल के साथियों और नवागन्तुकों के सम्पर्क में आता हैं इन सभी के विचारों एवं व्यवहारों से उसे समायोजन करना होता है। वह अपनी संस्कृति के अनेक निषेधों एवं यौन सम्बन्धी निषेधों का पालन करना सीखता है। इस अवस्था में उसे अनेक नयी परिस्थितयों का सामना करना पड़ता है और उसे कई नये–नये अनुभव होते हैं। कई समाजों में तो किशोर को आर्थिक क्रियाओं में भी भाग लेना होता है। अपने आर्थिक जीवन में सफलता बहुत कुछ उसके समाजीकरण पर निर्भर है। इस अवस्था में उसमें परा अहम् अर्थात नैतिकता की भावना पैदा होती हैं इस प्रकार इस अवस्था में सांस्कृतिक मूल्यों एवं व्यक्तिगत अनुभवों के द्वारा किशोर में आत्म–नियन्त्रण की क्षमता पैदा होती है।

समाजीकरण के अन्य सोपान–समाजीकरण की प्रक्रिया उपर्युक्त चार अवस्थाओं में ही समाप्त नहीं हो जाती है वरन् यह आजीवन चलती रहती है, किन्तु व्यक्तित्व निर्माण की दृष्टि से ये सोपान अधिक महत्वपूर्ण हैं। बाद की अवस्था में यह प्रक्रिया सरल हो जाती है क्योंकि तब तक व्यक्ति भाषा का अच्छी तरह से ज्ञान प्राप्त कर चुका होता है। वह अपनी क्रियाओं को उद्देश्यमूलक बना लेता है और नयी भूमिकाएँ प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में पहले पूरी की गयी भूमिकाओं के अनुरूप ही होती हैं। अतः बाद की अवस्था में समाजीकरण की प्रक्रिया स्वचालित हो जाती है। किशोरावस्था के बाद भी समाजीकरण की प्रक्रिया तीन प्रमुख सोपानों–युवावस्था, प्रौढ़ावस्था एवं वृद्धावस्था से गुजरती है।

युवावस्था में व्यक्ति को अनेक नये पद प्राप्त होते हैं और उनसे सम्बन्धित भूमिकाओं को उसे निभाना होता है। उसे एक पति, पिता, दामाद, अधिकारी आदि की प्रस्थितियाँ प्राप्त होती हैं और उनके अनुरूप भूमिकाएँ भी निभानी होती हैं। इस अवस्था में वह परिवार तथा बाह्य जगत में कई महत्वपूर्ण दायित्वों को निभाता है, कभी–कभी उसे भूमिका–संघर्ष की स्थिति का भी सामना करना पड़ता है।

प्रौढ़ावस्था में व्यक्ति पर सामाजिक दायित्व और बढ़ जाते हैं। उस पर अपने बच्चों की शिक्षा–दीक्षा एवं विवाह, आदि का भार पड़ता है। उसे माँ–बाप के रूप में एवं ऑफिस में वरिष्ठ अधिकारी या सेवक के रूप में नये उत्तरदायित्व सम्भालने होते हैं। **जॉनसन** कहते हैं कि कम–से–कम तीन कारणों से वयस्कों का समाजीकरण बच्चों के समाजीकरण से सरल होता है–(1) वयस्क साधारणतया उस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कार्य करने को प्रेरित होता है जो स्वयं देख चुका है।, (2) जिस नयी भूमिका को वह आन्तरीकृत करने का प्रयास करता है, उसमें और उसके व्यक्तित्व में पहले से उपस्थित भूमिकाओं में काफी समानता होती है, तथा (3) समाजीकरण करने वाला भाषा के माध्यम से सरलता से सीख लेता है।

वृद्धावस्था में व्यक्ति में शारीरिक, मानसिक व सामाजिक दृष्टि से कई परिवर्तन आ जाते हैं। अब वह दादा, परदादा, श्वसुर, नाना आदि के रूप में कई नये पद ग्रहण करता है और उसके अनुरूप भूमिकाएँ भी निभाता हैं

यदि वह नौकरी कर रहा है तो सेवानिवृत कर दिया जाता है। अब वह आर्थिक रूप से कमाने योग्य नहीं रहता। अतः उसे पराश्रित होना पड़ता है, अनेक इच्छाओं का दमन करना पड़ता है। नयी परिस्थितयों से अनुकूलन न कर पाने की अवस्था में उसे कई तनावों को सहन करना होता है। पुत्र, पौत्री एवं स्वयं के विचारों में पीढ़ीगत भेद के कारण कई बार उसे लगता है कि उसके अनुभवों की अवहेलना की जा रही है और अब वह कुण्ठाग्रस्त हो जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि व्यक्ति का समाजीकरण जीवनपर्यन्त चलता रहता है और वह कुछ न कुछ सदैव सीखता ही रहता है। वृद्धावस्था में व्यक्ति में शारीरिक, मानसिक व सामाजिक दृष्टि से कई परिवर्तन आ जाते हैं।

समाजीकरण की सम्पूर्ण प्रक्रिया के चारों स्तरों का वर्णन करते हुए **जॉनसन** ने समाजीकरण प्रक्रिया में निहित मूल तत्व की ओर संकेत करते हुए लिखा है कि ''समाजीकरण वह प्रक्रिया है जिसमें समाजीकरणकारी और उसके शिष्य के बीच समाजिक अन्तःक्रिया पाई जाती है।'' समाजीकरणकारी अपने शिष्य के लिए संकेत प्रदान करते हैं, विरोधी प्रतिक्रिया को डाँट, दण्ड आदि के द्वारा हतोत्साहित करते है, तथा उपेक्षित व्यवहार करने पर पुरस्कृत करते हुए समाजीकरण की प्रक्रिया को निर्देशित करते हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण प्रक्रिया में शिष्य का व्यक्तित्व धीरे–धीरे लगभग उसी दिशा की ओर परिवर्तित होता रहता है। जिस ओर समाजीकरणकारी ले जाना चाहते हैं। इस प्रकार **जॉनसन** के शब्दों में ''यह स्पष्ट हो गया होगा कि समाजीकरण के चार स्तरों की अन्तरीकृत भूमिकाएँ जिसनमें आधारभूत सामन्यक और सामाजिक आवश्यकताएँ, आधारभूत सामाजिक स्वीकृतियों के प्रति सजगता तथा आधारभूत परिवर्ती प्रतिमानों के सभी मूल्य सम्मिलित रहते हैं जो बाद की सभी भूमिकाओं के आदि प्रारूप माने जा सकते हैं।''

समाजीकरण की उपर्युक्त चारों अवस्थाओं से यह नहीं समझना चाहिए कि समाजीकरण की प्रक्रिया किशोरावस्था पर आकर रूक जाती है। वास्तविकता यह कि समाजीकरण की प्रक्रिया जीवनपर्यन्त चलती रहती है, लेकिन इतना अवश्य है कि किशोरावस्था के बाद यह प्रक्रिया अपेक्षाकृत सरल हो जाती है। **जॉनसन** ने इसके तीन कारण बताये हैं–

(1) व्यस्क साधारणतया उस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कार्य करने के लिए प्रेरित होता है जो वह स्वयं देख चुका हो।
(2) वह जिस नई भूमिका को अन्तरीकृत करना चाहता है उसमें तथा उसके द्वारा पहले की गई भमिकाओं में काफी समानता होती है।
(3) वह भाषा के माध्यम से नई प्रत्याशाओं को सरलता से समझ लेता है।

1.9 सारांश

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप यह जान चुके हैं कि–

समाजीकरण व्यक्ति को सामाजिक बनाने की प्रक्रिया है इस प्रक्रिया का प्रमुख उद्देश्य व्यक्ति को सामाजिक एवं योग्य प्राणी बनाना है ताकि वह अपनी प्रस्थिति एवं भूमिका के अनुसार कार्य कर सकें। समाजीकरण के द्वारा ही व्यक्ति में 'अहम' का विकास होता है, आदर्श–नियमों का आत्मसात् होता है और संस्कृति एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में हस्तांतरित होता है। मनुष्य एक जैविकीय प्राणी के रूप में जन्म लेता है। जन्म के समय उसमें तथा पशुओं के बच्चों में प्राणीशास्त्रीय, आधार पर अंतर अवश्य होता है परन्तु उसका स्वभाव एवं व्यवहार पशुओं की

भाँति ही होता है। समाज में जन्म लेने के पश्चात् मनुष्य के बच्चे का समाज में ही पालन–पोषण होता है तथा समाज में रहकर ही वह बड़ा होता है।

परिवार, पड़ौस, क्रीडा समूह, स्कूल, विवाह तथा धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक संस्थाओं के द्वारा सामाजिक सीख तथा इनके साथ परस्पर अन्तःक्रिया के आधार पर उसकी पाशविक प्रवृत्तियों का दमन करके उसमें मानवीय एवं सामाजिक गुणों को विकसित कर दिया जाता है अर्थात उसे मानव अथवा एक सामाजिक प्राणी बना दिया जाता है। सामाजिक सीख की इसी प्रक्रिया को, जिसके आधार पर मानव शिशु को पशुता से मानवता की ओर लाया जाता है, स्पष्ट है कि मानव अथवा सामाजिक प्राणी बनने के लिए समाजीकरण की अनिवार्य प्रक्रिया है।

1.10 शब्दावली

समाजीकरण (Socialization) : समाजीकरण व्यक्ति और उसके समाज के बीच अन्तःक्रियात्मक प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यक्ति अपने समाज से स्वीकृत मान्यताओं एवं मूल्यों को ग्रहण करके समाज का एक क्रियाशील एवं उत्तरदायी सदस्य बन जाता है।

प्रक्रिया (Process) : किसी लक्ष्य की ओर निर्देशित क्रियाओं के व्यवस्थित क्रम को प्रक्रिया कहते हैं जिससे क्रियाएँ निरन्तर होती है। अन्तःक्रिया के विभिन्न स्वरूपों को ही प्रक्रिया के नाम से पुकारा जाता है।

अवधारणा (Concept) : किसी वस्तु, घटना अथवा प्रक्रिया के वैधानिक प्रेक्षण एवं बोध के आधार पर निर्मित समान्य विचारों को अभिव्यक्त करने के लिए जिन विशिष्ट शब्द–संकेतों का प्रयोग किया जाता है, उन्हें अवधारणा करते हैं। एक अवधरणा वस्तुओं, घटनाओं, व्यक्तियों, संबंधों, प्रक्रियाओं आदि के विशिष्ट वर्ग अथवा समूह को दिया गया एक विशिष्ट नाम अथवा संकेतात्मक पद है।

परिभाषा (Definition) : किसी वस्तु व घटना का तार्किक वर्ण अथवा किसी शब्द या पद के अर्थ व्यक्त करने वाली व्याख्या है। इस व्याख्या में उसके महत्वपूर्ण विशिष्ट गुणें एवं लक्षणों के उल्लेख के साथ–साथ उसकी अन्तर्गत एवं सीमाओं का निर्धारण सम्मिलित होता है।

1.11 अभ्यास हेतु प्रश्न एवं उत्तर

1. नवजात शिशु को सामाजिक प्राणी बनाने वाली प्रक्रिया का क्या नाम है–
   A. समाजीकरण B. पश्चिमीकरण C. संस्कृतिकरण D. स्थानीयकरण
2. समाजीकरण के सामूहिक प्रतिनिधान के सिद्धान्त के प्रतिपादक कौन हैं–
   A. दुर्खीम B. कूले C. फ्रायड D. मीड
3. समाजीकरण का दर्पण में आत्मदर्शन के सिद्धान्त के प्रणेता कौन हैं–
   A. स्पेन्सर B. कूले C. कॉम्ट D. मार्क्स
4. 'मानव समाज' नाम पुस्तक के लेखक कौन हैं–
   A. के0डेविस B. वेबर C. योगेन्द्र सिंह D. पारसन्स
5. स्टीवर्ट एवं ग्लिन के समाजीकरण के आवश्यक तत्वों को कितने भागों में बाँटा है–

A. एक B. दो C. तीन D. चार

6. ''वह प्रक्रिया जिसके द्वारा व्यक्ति अपने समाज की संस्कृति को सीखते हैं, समाजीकरण के नाम से जानी जाती है'' यह परिभाषा किसने दी है–

A. न्यूमेयर B. फिचर C. जॉनसन D. हारालाम्बोस

7. व्यक्ति x समाज = सामाजिक व्यवहार = समाजीकण, यह सूत्र निम्नलिखित में किसने प्रकट की है–

A. मर्टन B. लुण्डबर्ग C. बोटोमोर D. किम्बाल यंग

8. किसके मतानुसार समाजीकरण की प्रक्रिया में 'अपने संबंध में आत्म चेतना' या ''स्वचेतना'' महत्वपूर्ण है–

A. मीड B. सोरोकिन C. कूले D. फ्रायड

9. किसने सामाजीकरण की व्याख्या को अबोधात्मा (ID) बोधात्मा (Ego) तथा आदर्शात्मक (Super Ego) को धारणा के आधार पर समझने का प्रयत्न किया–

A. ग्रीन B. मीड C. कॉम्ट D. वान विज

10. किसने लिखा है कि समाजीकरण मिलकर काम करने, सामूहिक उत्तरदायित्व की भावना को विकसित करने और दूसरों का कल्याण सबंधी आवश्यकताओं द्वारा निर्देशित होने की प्रक्रिया है–

A. के0 डेविस B. टॉनीज C. बोगार्डस D. फिचर

11. किसने लिखा है कि समाजीकरण एक प्रकार का सीखना है, जो सीखने वाले को समाजिक कार्य करने के योग्य बनाता है–

A- किम्बाल यंग B. ग्रीन C. फ्रायड D. जॉनसन

<u>उत्तरमाला</u>

1. (A) 2. (A) 3. (B) 4. (A) 5. (C) 6. (D) 7. (B) 8. (A) 9. (B) 10. (C)

11. (D)

1.12 संदर्भ ग्रंथ सूची

गुप्ता एवं शर्मा– समाजशास्त्र (2001), साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा।

जे.एस.राठौर– समाज मनोविज्ञान (2003), विवेक प्रकाशन, जवाहर नगर–दिल्ली।

किम्बाल यंग– पर्सनालिटी एण्ड प्रोबलेम्स ऑफ एडजस्टमेन्ट, (1952), रटलेज एण्ड केगन पॉल, लंदन।

ई.बी. रायटर– हैंडबुक ऑफ सॉश्योलॉजी, (1941), ड्राईडेन प्रेस, नई दिल्ली।

1.13 सहायक/उपयोगी पाठ्यसामग्री

जी0के0 अग्रवाल, समाजशास्त्र, एस.बी.पी.डी. पब्लिकेशन्स, आगरा, (2016)।

1.14 निबंधात्मक प्रश्न

1. समाजीकरण का अर्थ एवं परिभाषा लिखिए।

2. परिवार समाजीकरण की प्रथम पाठ्शाला है, स्पष्ट कीजिए।

3. समाजीकरण की प्रकृति एवं विशेषताओं का वर्णन कीजिए।

4. समाजीकरण की प्रक्रियाओं की उदाहरण सहित विवेचना कीजिए।

इकाई–2

समाजीकरण के प्रमुख अभिकरण एवं इसके कारक

इकाई की रूपरेखा

2.1 उद्देश्य

2.2 प्रस्तावना

2.3 अवधारणा

2.4 समाजीकरण के विभिन्न अभिकरण एवं इसके कारक

2.5 सारांश

2.6 शब्दावली

2.7 अभ्यास हेतु प्रश्न एवं उत्तर

2.8 संदर्भ ग्रंथ सूची

2.9 सहायक/उपयोगी पाठ्यसाम्रगी

2.10 निबंधात्मक प्रश्न

2.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप समझ पायेंगे कि

- समाजीकरण के विभिन्न अभिकरण का समाज में क्या महत्व है।
- समाजीकरण के विभिन्न अभिकरण एवं इसके कारक समाज के विकास में क्या योगदान करते हैं।
- व्यक्ति एवं समाज के बीच समाजीकरण के अभिकरण कैसे संबंध स्थापित करते हैं।

2.2 प्रस्तावना

मानव के समाजीकरण की प्रक्रिया बडी लंबी एवं जटिल है। इस अर्थ में अनेक संस्थाओं एवं समूहों का योगदान होता है। ये संस्थाएं समय–2 पर विभिन्न बातें सिखाती हैं। कभी तो वे एक–दूसरे की पूरक एवं सहयोगी होती हैं तो कभी परस्पर स्वतंत्र व संघर्षकारी। बच्चे का समाजीकरण करने में अनेक प्राथमिक संस्थाओंः जैसे परिवार, पड़ोस, मित्र मण्डली, विवाह एवं नातेदारी समूह तथा द्वितीयक संस्थाओं जैसेः विद्यालय, धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक एवं व्यावसायिक संगठनों आदि का योगदान होता है। व्यक्ति इन संस्थाओं एवं समूहों से जितना अनुकूलन करता है, समाजीकरण भी उतना ही सफल माना जाता है।

2.3 अवधारणा

समाजीकरण की प्रक्रिया एक जटिल प्रक्रिया है, जिसमें की एकाधिक संस्थाओं का योगदान होता है। दूसरे शब्दों में, समाजीकरण के कुछ साधन होते हैं जिनकी समाज में भूमिका महत्वपूर्ण मानी जाती है। इसका कारण यह है कि व्यक्ति का समाजीकरण जन्म से मृत्यु तक निरन्तर चलने वाली घटना है।

मूलतः मानव स्वभाव पशुओं की भांति स्वार्थी, असभ्य एवं पाशविक होता है। परिवार, पडोस, मित्र, स्कूल एवं समाज के असभ्य सदस्यों के संसर्ग में आने से मनुष्य के इस मूल स्वभाव में परिवर्तन एवं परिमार्जन होता है। यह समाज की मान्यताओं एवं मूल्यों को स्वीकार करके उनके अनुकूल व्यवहार करने लगता है। तभी वह मानव अर्थात् एक सामाजिक प्राणी कहलाने का अधिकारी होता है।

2.4 समाजीकरण के विभिन्न अभिकरण एवं इसके कारक

समाजीकरण एक सामाजिक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है जिसके द्वारा हम समाज के सक्रिय सदस्य बनते हैं। इसमें विभिन्न अभिकरणों, संस्थाओं और माध्यमों का योगदान रहता है। मनुष्य द्वारा सामाजिक मान्यताओं, आदर्शों एवं व्यवहार प्रतिमानों को स्वीकार करने की प्रक्रिया एकदम ही पूर्ण नहीं हो जाती वरन् जीवनपर्यन्त चलती है। पशुओं से मानवता की ओर बढ़ने अथवा एक जैविकीय प्राणी से सामाजिक प्राणी बनने की इस दीर्घकालीन प्रक्रिया को प्रभावित, नियंत्रित एवं निर्देशित करने में समाज की किसी एक संस्था का हाथ नहीं होता है अपितु अनेक संस्थाऐं व माध्यम इसे प्रभावित करती हैं। जिनमें निम्नलिखित तथ्य महत्वपूर्ण है–इस प्रक्रिया में समाज के मानदंडों और मूल्यों के आन्तरीकरण के साथ–साथ अपनी सामाजिक भूमिकाओं को सम्पादन करना व सीखना दोनों बातें सम्मिलित होती हैं। इसी प्रक्रिया के द्वारा 'स्व' का विकास होता है, अतः कुछेक समाजशास्त्रियों ने इसे 'स्व' के विकास की प्रक्रिया भी कहा है। इस प्रक्रिया में परिवार समुदाय और विद्यालय की विशेष भूमिका होती है। यह अविरल रूप से जीवनपर्यन्त चलने वाली प्रक्रिया है। उसमें सम्प्रेषण, संस्कृतिकरण तथा सीखने की सभी उन प्रक्रियाओं का समावेश होता है जिनके द्वारा एक मानवीय सावयव सामाजिक प्रकृति को ग्रहण कर सामाजिक जीवन में भाग लेने योग्य बनाता है। मानव शिशु उस संसार में पाशविक प्रवृत्तियों एवं उद्वेगों को लेकर एक जैविकीय प्राणी के रूप में जन्म लेता हैं इस अवस्था में उसमें सामाजिक गुणों का सर्वथा अभाव होता है। सामाजिक प्राणी की संज्ञा से विभूषित किये जाने के लिए उसे सामाजिक गुणों को सीखना पड़ता है। समाजीकरण के प्रमुख अभिकरण निम्नवत् हैं–

परिवार

परिवार, समाजीकरण का सर्वाधिक महत्वपूर्ण माध्यम है। **डेविस** ने लिखा है, ''बालक के सन्दर्भ में चूंकि परिवार, प्रथम सर्वाधिक प्रभावी, सर्वाधिक निकट एवं एक सम्पूर्ण एजेन्सी है अतः व्यक्ति के निर्माण में अत्यधिक महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।'' वास्तव में परिवार समाजीकरण का आधार है।

जन्म के प्रारम्भिक काल में मानव शिशु एक जैविकीय प्राणी अथवा पशुतुल्य होता है। अर्थात् उसमें घृणा, द्वेष, क्रोध, प्रतिशोध आदि अनेक पाशविक प्रवृत्तियां पाई जाती हैं। परिवार में रहकर बच्चा परिवार के सब सदस्यों को एक–दूसरे से प्रेम, सहयोग, सहानुभूति आदि पर व्यवहार करते हुए देखता है। अतः उसमें भी इन मानवोचित भावनाओं का विकास हो जाता है। इसके अतिरिक्त परिवार में ही व्यक्ति मानवोचित खान–पान,

रहन–सहन, वेशभूषा, आचार–विचार, व्यवहार के ढंग सीखता है। व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास तथा सामाजिक संगठन एवं व्यवस्था को बनाने रखने के लिए जिन व्यवहारों, आचरणों, मूल्यों, एवं आदर्शों का पालन करना आवश्यक होता है। उन सबकी समुचित शिक्षा व्यक्ति को परिवार में ही प्राप्त होती है। इतना ही नहीं सार्वजनिक क्षेत्र में व्यक्ति के सामाजिक पद तथा सम्बन्धित भूमिकाओं का निर्धारण परिवार द्वारा होता है। परिवार में ही व्यक्ति को इन पदो ंके अनुरूप भूमिकाएं निभाने और साथ ही परिवार एवं समाज के नियमों, प्रथाओं, आदर्शो एवं मूल्यों के अनुरूप कार्य करने की शिक्षा मिलती है। व्यक्ति को उन गुणों की शिक्षा भी परिवार में ही मिलती है जो इसे समाज का आदर्श नागरिक बनने में सहायता करते हैं।

परिवार व्यक्ति को समाज की विभिन्न परिस्थितियों के साथ सामंजस्य करने में सहायता करते है जिन पर सामाजिक संगठन एवं व्यवस्था निर्भर करती है। **किम्बाल यंग** के शब्दों में ''बच्चे का मौलिक समाजीकरण परिवार में ही होता है। समस्त आधारभूत विचार, हस्टपुस्ट कौशल तथा मानदण्ड परिवार में ही प्राप्त किये जाते है।'' डेविस ने भी समाजीकरण में परिवार की भूमिका स्पष्ट करते हुए लिखा है कि ''समाजीकरण के प्रारम्भिक चरण घर में ही प्रारम्भ होते हैं।'' **राबर्ट बीरस्टीड** के शब्दों में ''संक्षेप में यह परिवार ही है जो असभ्य बच्चों को सभ्य युवकों में परिवर्तित कर देता है।'' **सैमुअल** के अनुसार,'' मुख्य रूप से यह घर ही है जहाँ दिल खुलता है, आदतों का निर्माण होता है। बुद्धि जाग्रत होती है तथा अच्छा–बुरा चरित्र ढलता है।'' कूले ने भी कहा है कि ''व्यक्ति की सामाजिक प्रवृत्ति और आदर्शों के निर्माण में परिवार मूलभूत है।'' इस प्रकार जैसा कि **किम्बाल यंग** का कथन है ''समाज में समाजीकरण के विभिन्न माध्यमों में से परिवार सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। परिवार प्राथमिक समूह है।

सी0एच0 कूले ने स्वीकार किया है कि आदर्शों तथा सामाजिक स्वभाव के निर्माण में परिवार प्राथमिक होते हैं। मनुष्य सर्वप्रथम जिस समूह के सम्पर्क में आता है वह परिवार ही है। इसलिए इसका प्रभाव काफी स्थायी होता है। माँ उसे दूध पिलाती है तथा उसकी रक्षा करती है। पिता व परिवार के अन्य सदस्य शिशु के साथ स्नेहपूर्ण व्यावहार करते हुए उसकी आवश्यकताओं को पूर्ण करने का प्रयत्न करते हैं। इससे शिशु के मन में सुरक्षा की भावना पनपती है वह जानने लगता है किस प्रकार के कार्य व व्यवहार करने से उसे किस प्रकार का सम्मान प्राप्त होगा। इसके साथ–साथ उसे भाषा का ज्ञान भी परिवार से ही होता है। परिवार के प्रत्येक सदस्य के अपने विचार, व्यवहार के ढंग आदि होते हैं। लेकिन बच्चे घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण सभी उसके साथ घनिष्ठता से रहते हैं। इस प्रकार बच्चा उससे अनुकूलन करना सीखता है। कुछ बड़ा होने पर वह नियम एवं परम्पराओं के अनुसार कार्य करना सीखता है। अगर परिवार में कोई कमी है या समाजीकरण त्रुटिपूर्ण रहा है तो उस दशा में व्यक्ति का व्यक्तित्व विघटित हो जाता है।

परिवार के माध्यम से बच्चा अपने सामाजिक व्यवहार, भाषा, कपड़े पहनने का ढंग, भोजन का तरीका तथा अपनी संस्कृति के अनुरूप व्यवहार करना सीखता हैं। अगर परिवार में कोई कमी है या समाजीकरण से बच्चा अपने सामाजिक व्यवहार, भाषा, कपड़े पहनने का ढंग, भोजन का तरीका तथा अपनी संस्कृति के अनुरूप व्यवहार करना सीखता है तो बच्चे के समाजीकरण पर गहरा प्रभाव पड़ता हैं। कुछ विद्वानों ने परिवार की समाजीकरण में महत्वपूर्ण भूमिका को ध्यान में रखते हुए इसे संस्कृति और परम्पराओं का वाहक कहा है। काफी सीमा तक यह बात ठीक भी है। अपनी संस्कृति के बारे में बच्चे को ज्ञान सर्वप्रथम परिवार में ही होता है। परिवार ही समाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा संस्कृति को एक पीढी से दूसरी पीढी में हस्तांरित करने का एक प्रमुख माध्यम है। परिवार एक प्राथमिक समूह है। **जेल्डिच** ने छप्पन समाजों का मानवशास्त्रीय अध्ययन करके समाजीकरण में माता

एवं पिता की भूमिका का पता लगाया। सभी समाजों में पिता 'साधक नेतृत्व' और माता 'भावात्मक नेतृत्व' प्रदान करते हैं। साधक नेता के रूप में पिता ही खेत एवं व्यवसाय का मालिक होता है, आखेट में अगुआ होता है।

सभी शिकायतें उसी के पास आती हैं, वही उनका निर्णय करता है और बच्चों को दण्ड देता है, उन्हें अनुशासन एवं नियन्त्रण में रखता है। परिवार में माता बच्चे के लिए भावात्मक भूमिका निभाती हैं वही परिवार में मध्यस्थता करती , हैं समझौता करने का कार्य करती हैं। परिवार में माता झगड़ों को शान्त करती हैं , और वैमनस्य को दूर करती हैं, माता का व्यवहार बच्चे के प्रति स्नेहमय, घनिष्ठ, हितैषी और भावपूर्ण होता है, वह उदार एवं दण्ड न देने वाली होती हैं। सभी समाजों में पत्नी पति से भावात्मक दृष्टि से सम्बद्ध होती हैं। रौब जमाने वाली औरतें समाज में अच्छी नहीं मानी जाती। पुत्र सदेव पिता के समान और पुत्री मां के समान बनना चाहती हैं। इस प्रकार बच्चे पर माता–पिता का सर्वाधिक प्रभाव होता है।

परिवार के अन्य सदस्यों एवं भाई–बहिनों का भी बच्चे के समाजीकरण पर गहरा प्रभाव पड़ता हैं सदस्यों के पारस्परिक प्रेम, सहयोग, त्याग, अधिकार, बलिदान, सेवा, कर्तव्यनिष्ठा, आदि से बच्चे में भी सद्‌गुण जन्म लेते हैं। परिवार में आयु, लिंग एवं पद की दृष्टि से विभिन्न प्रकार के व्यक्ति होते हैं, जिनके सम्पर्क से बच्चा उनके आचरणों का अनुकरण करता है। वह माँ, बहिन तथा पिता और भाई में लिंग भेद होने से विषम लिगिंयों के प्रति समाज में प्रचलित व्यवहारों एवं मूल्यों को ग्रहण करता है। इसी प्रकार से परिवार में छोटी एवं बड़ी सभी आयु के व्यक्ति होते हैं। बड़े छोटों के प्रति अधिकारों का एवं छोटे बड़ों के प्रति कर्तव्यों का निर्वाह करते हैं जिसे बच्चा भी ग्रहण करता है। अधिकारों एवं दायित्वों का परिवार में सुन्दर समन्वय पाया जाता है। परिवार का सहयोग एवं भवात्मक पर्यावरण बच्चे के व्यक्तित्व निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता हैं अनेक

महापुरूषों के उदाहरणों से स्पष्ट है कि उनके महान बनने में परिवार का प्रमुख हाथ रहा है। परिवार में बच्चा जो कुछ सीखता है, उसे पुनः गुड़ियों के खेल के दौरान प्रकट करता है। माता पिता जब उसकी क्रियाओं को अनुरूप पाते हैं तो उसे स्नेह से पुरस्कृत करते हैं और विपरीत क्रिया करने पर डांटते हैं। पुरस्कार एवं दण्ड के आधार पर बच्चा उचित एवं अनुचित में भेद करना सीखता है, उसमें नैतिकता के भाव पैदा होते हैं और वह सही कार्यों को ग्रहण करता है। परिवार में बच्चा जो कुछ सीखता है, वह उसके जीवन की स्थायी पूंजी होती है।

परिवार के सदस्यों में से ही वह किसी को अपना आदर्श चुन लेता है और अपने व्यवहार को उसी प्रकार बनाने का प्रयास करता है। भाषा का प्रयोग भी बच्चा परिवार में ही सीखता है। परिवार में भिन्न–भिन्न स्वभाव एवं रूचि वाले व्यक्ति होते हैं, बच्चा उन सभी के साथ अनुकूलन करना सीखता है। अनुकूलन के दौरान उसमें सहिष्णुता का गुण पैदा होता है। परिवार में सबसे छोटा हाने के कारण शिशु को दूसरों के व्यवहारों को सहन करना पड़ता है। इसमें उसमें सहनशीलता पैदा होती है, जो एक महत्वपूर्ण सामाजिक गुण है। छोटा होने के कारण उसे बड़ों की आज्ञा का पालन करना, अभिवादन करना, पूजा–पाठ एवं आचरण के अन्य नियमों को सीखना होता हैं। पारिवारिक आदर्श और मूल्य बच्चे के भी आदर्श और मूल्य बन जाते हैं। परिवार ही उसे आदर्श नागरिकता का पाठ पढ़ाता है। वही उसमें प्रेम, त्याग, बलिदान, सहयोग, दया, क्षमा, परोपकार, देश प्रेम, सहिष्णुता, आज्ञाकारिता, अनकूलन, आदि गुण भरता है। इसलिए ही कहा जाता है कि परिवार शिशु की प्रथम पाठशाला है। बच्चा परिवार का ही प्रतिरूप होता है।

क्रीडा समूह

परिवार के बाद क्रीडा समूह दूसरा प्राथमिक समूह है जो बच्चे के व्यक्तित्व के निर्माण एवं समाजीकरण में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करता है। परिवार से बाहर निकलने पर बच्चे को आस–पास के परिवारों के समान आयु के बच्चे मिलते हैं जो उसके खेल के साथी बन जाते हैं। विभिन्न परिवारों से आए हुए इन बच्चों की आदतों, रूचियाँ, मनोंवृत्तियाँ, रीतियाँ आदि अलग अलग होती हैं। साथ–साथ खेलने के लिए बच्चा इन सब बच्चों में अनुकूलन स्थापित कर लेता है। इससे अन्दर विषम परिस्थितियों से अनुकूलन करने की क्षमता का विकास होता है। अपने खेल के साथियों के साथ खेलते हुए बच्चे में नेतृत्व, उत्तरदायित्व ग्रहण करने की क्षमता, कर्तव्यपालन, अपनी गलती को स्वीकार करने की आदत आदि गुणों का विकास होता है। यही सब गुण बच्चे के व्यक्त्वि को आधार प्रदान करते हैं। बच्चा जब कुछ बड़ा होता है तो वह क्रीडा समूह के सम्पर्क में आता है। इसके अधिकतर सदस्य उसकी उम्र के ही होते हैं जिस क्रीडा समूह में वह खेलता है। विभिन्न बालकों की रूचि, विचारधारा आदि का प्रभाव उस पर निरन्तर पड़ता है और जिसमें वह आकर्षण पाता है उसे अपना लेता है।

क्रीडा समूह में सामाजिक सम्बन्धों से अनुकूलन आदि बातें भी बच्चा जान जाता है। एक ही आयु समूह होने के कारण क्रीडा समूह समाजीकरण का महत्वपूर्ण अभिकरण माना जाता है।

पडोस

परिवार और क्रीडासमूह के बाद बच्चे के व्यक्तित्व को प्रभावित करने वाला तीसरा महत्वपूर्ण अभिकरण पड़ोस है। पड़ोसियों के सम्पर्क में आने से बच्चे के व्यक्तित्व पर उनके विचारों, आदर्शो, मान्यताओं, क्रियाओं एवं सुझावों का प्रभाव पड़ता है। सीख एवं समाजीकरण की प्रक्रिया में पड़ोस की महत्वपूर्ण भूमिका के कारण ही विद्वानों ने इसे विस्तृत परिवार की संज्ञा दी है। पड़ोस के कार्यों को दो रूपों में देखा जा सकता है। प्रथम पड़ोसियों के व्यवहार तथा विचारों के ढंग का प्रभाव बालक पर पडता है और वह उनका अनुकरण प्रारम्भ कर देता है। दूसरे उसके व्यवहार पर भी नियन्त्रण पड़ोस ही रखता है। इस प्रकार बालक उचित कार्यों को करने का प्रयत्न करता है।

नातेदारी समूह

नातेदारी समूह के अन्तर्गत व्यक्ति के वे सभी सम्बंधी आते हैं जो रक्त अथवा विवाह के बंधनों द्वारा एक–दूसरे से सम्बद्ध होते हैं। बच्चों पर इनके विचारों, व्यवहारों, एवं सुझावों का बहुत प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार समाजीकरण की प्रक्रिया में रिश्तेदारों की भूमिका भी अत्यंत महत्वपूर्ण है।

स्कूल

बच्चे के व्यक्तित्व के बहुमुखी विकास की दृष्टि से परिवार के बाद दूसरा स्थान स्कूल का ही आता है। स्कूल में बच्चे का न केवल बौद्धिक अपितु संवेगात्मक एवं सांस्कृतिक विकास भी होता है बच्चे को बोल–चाल, रहन–सहन, व्यवहार–प्रतिमानों, रीति–रिवाजों, आदर्शों, मूल्यों, मान्यतओं एवं विभिन्न विचारधाराओं की शिक्षा स्कूल में ही मिलती है। स्कूल में प्राप्त शिक्षा व्यक्ति की शारीरिक, मानसिक, नैतिक, सामाजिक और आध्यात्मिक शक्तियों एवं क्षमताओं का विकास करती है ताकि व्यक्ति समाज की विभिन्न परिस्थितियों के बीच सामंजस्य स्थापित कर सके। स्कूल में गुरूजनों एवं पुस्तकों से प्राप्त शिक्षा व्यक्ति का उसके पर्यावरण से अनुकूलन कराती है और सांस्कृतिक विशेषताओं को सिखाती है। ८

यक्ति की सीख में वृद्धि करके आवश्यकताओं की पूर्ति में सहायता करती है तथा उचित अनुचित का ज्ञान कराकर व्यक्ति के विचारों एवं व्यवहारों को नियमित एवं नियन्त्रित करती है। व्यक्ति के समाजीकरण में शिक्षा की भूमिका के संबंध में **बोटोमोर** ने लिखा है कि ''शिक्षा ने स्वतंत्र रूप से आचरण के निर्धारण में योगदान दिया है और वह शिशु का प्रारम्भिक समाजीकरण है।'' **रॉबर्ट बीरस्टीड** के शब्दों में, ''यह स्कूल में ही होता है कि संस्कृति का सही तरीके से प्रेषण और उपार्जन होता है जिससे एक पीढ़ी का साहित्य और ज्ञान–विज्ञान और कला दूसरी पीढ़ी तक चलती है।'' वहाँ वह पढ़ाई व पाठ्यपुस्तकों को पढ़ने के अतिरिक्त अपनी संस्कृति का ज्ञान प्राप्त करता है तथा उसका अन्य संस्कृतियों से परिचय होता है। अनुशासन एवं आज्ञापालन जैसी बातें भी बच्चा शिक्षा संस्थाओं में ही सीखता है। यदि स्कूल के अध्यापकगण एवं सहपाठी ठीक नहीं हैं तो बच्चा अनुशासनहीन बन जाता है। अगर वातावरण अनुकूल एवं प्रजातांत्रिक है तो बच्चे का विकास पूर्ण रूप से होता है। शिक्षण संस्थाओं में वह नए मित्रों एवं शिक्षकों के सम्पर्क में आता है और उनसे वार्तालाप व विचारों का आदान–प्रदान करता है। इससे उसके विचारों व व्यवहार में समाजिकता आ जाती है। विद्यालयों या शिक्षण संस्थाओं में मनुष्य का बौद्धिक विकास होता है।

विवाह

व्यक्ति के समाजीकरण की प्रक्रिया में विवाह का महत्व भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। विवाह एक अति महत्वपूर्ण संस्था है जो मानव जीवन को आदर्श रूप में संचालित करने की व्यवस्था करती है। यह मनुष्य की अनेक जैविकीय, सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाली संस्था है। विवाह के द्वारा स्त्री–पुरूष के बीच पारस्परिक संबंधों का आधार भावात्मक होता है। विवाह एक ओर पत्नी से प्यार, सुरक्षा एवं संरक्षण की अपेक्षा करती है तो दूसरे ओर पति–पत्नी से प्यार, कोमलता एवं समर्पण की आशा रखता है। दोनों भिन्न–भिन्न सामाजिक वातारण से आते हैं। तथा दोनो का पृथक–पृथक व्यक्तित्व होता है, अतः दोनों को एक–दूसरे से समायोजन करना पडता है। दोंनों के बीच यह समायोजन जितना अधिक होता है व्यक्ति का वैवाहिक, पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन उतना ही सुखी होता है। इसी समायोजन पर परिवार के अन्य सदस्यों के व्यक्तित्व का विकास निर्भर करता है। इसके विपरीत यदि पति–पत्नी के बीच समायोजन नहीं हो पाता तो उनका वैवाहिक, पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन सुखपूर्ण नहीं रह पाता। पति–पत्नी के बीच यह समायोजन उनके जीवन की सफलता एवं अपने वातावरण के साथ उनके समायोजन को प्रभावित करता है।

मनुष्य की साथ–साथ रहने की स्वाभाविक प्रवृत्ति संतुष्ट होती है। इसी आधार पर व्यक्ति एक गृहस्थी का निर्माण करता है। विवाह के बाद स्त्री–पुरूष के बीच एक नया अध्याय प्रारम्भ होता है। व्यक्ति नये–नये सम्बंधों की स्थापना करता है जिससे उसकी नवीनता की इच्छा की पूर्ति होती है। **बर्टेन्ड रसेल** ने मानव जीवन में वैवाहिक सम्बंध की महत्ता को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि ''मैं विश्वास करता हूँ कि दो मानव प्राणियों के बीच विभिन्न संभावित सम्बंधों में विवाह–संबंध सर्वाधिक श्रेष्ठ एवं महत्वपूर्ण है।''

अन्य द्वैतीयक समूह एवं संस्थाएँ

व्यक्ति के समाजीकरण में उपर्युक्त अभिकरणों के अतिरिक्त कुछ अन्य द्वैतीयक समूहों एवं संस्थाओं की भूमिका भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। इनमें निम्नलिखित बिन्दु महत्वपूर्ण हैं–

जाति एवं वर्ग

व्यक्ति के समाजीकरण की प्रक्रिया में जाति एवं वर्ग की भूमिका भी महत्वपूर्ण होती है। प्रत्येक जाति की अपनी प्रथाएँ, परम्पराएँ, मान्यताएँ, विचार, भावनाएँ तथा खान–पान, रहन–सहन आदि सम्बन्धित व्यवहार प्रतिमान आदि होते हैं। इन सबके बीच पलते हुए व्यक्ति व्यक्तित्व संबंधी कुछ विशिष्ट गुणों को प्राप्त कर लेता

है। फलतः विभिन्न जातियों के व्यक्तियों के व्यक्तित्व में कुछ–न–कुछ भिन्नता अवश्य दिखाई देती है। इस प्रकार ब्राह्मण परिवार में उत्पन्न बच्चे के समाजीकरण की प्रक्रिया शूद्र बच्चे के समाजीकरण की प्रक्रिया से भिन्न होती है। इसी प्रकार प्रत्येक वर्ग के विचारों, मनोवृत्तियों, भावनाओं, रहन–सहन, व्यवहार–प्रतिमान आदि से सम्बंधित पृथक–पृथक परिस्थितियां होती हैं जो व्यक्ति के व्यक्तित्व एवं समाजीकरण की प्रक्रिया को प्रभावित करती हैं। इस प्रकार जाति और वर्ग व्यक्ति के समाजिकरण की प्रक्रिया को एक विशिष्ट दिशा प्रदान करते हैं।

आर्थिक संस्थाएँ

समाज की आर्थिक संस्थाओं का संबंध उत्पादन की प्रणाली, उत्पादक शक्तियों, उत्पादन के स्वरूप, उपभोग की प्रकृति, वितरण व प्रतिस्पर्द्धा आदि से होता है। इन सबका व्यक्ति के पारस्परिक संबंधों, विचारों, मान्यताओं, आदि पर महत्वपूर्ण प्रभाव पडता है। उदाहरण के लिए कृषि प्रधान आर्थिक व्यवस्था व्यक्ति के प्राथमिक अनौपचारिक एवं घनिष्ठ सामाजिक सम्बन्धों को विकसित करती है जबकि औद्यौगिक अर्थव्यवस्था अवैयक्तिक, द्वैतीयक, अनौपचारिक एवं कम घनिष्ठ सम्बन्धों को विकसित करती है। व्यक्ति के शारीरिक एवं बौद्धिक लक्षण भी आर्थिक संस्थानों से प्रभावति होते हैं। कृषि अर्थव्यवस्था में आर्थिक प्रतिस्पर्द्धा नहीं पायी जाती जबकि औद्यौगिक व्यवस्था में कटु आर्थिक प्रतिस्पर्द्धा पाई जाती है।

वर्तमान औद्यौगिक व्यवस्था ने व्यक्ति की तार्किकता एवं वैज्ञानकिता प्रदान की है। जिसके कारण उसकी अंधविश्वासी एवं रूढ़िवादी मनोवृत्तियाँ समाप्त होती जा रहीं हैं। इसी प्रकार आर्थिक दशाओं का प्रभाव विवाह एवं परिवार के स्वरूप, आकार एवं कार्यों पर भी पडता है। वर्तमान औद्यौगिक व्यवस्था ने संयुक्त परिवार एवं उसके घनिष्ठ एवं सहानुभूति संबंधों को एकाकी एवं व्यक्तिवादी परिवारों में परिवर्तित कर दिया है तथा सदस्यों के बीच घनिष्ठ, व्यक्तिवादी एवं भौतिकवादी संबंधों को विकसित कर दिया है। विवाह के क्षेत्र में प्रेम विवाह, अंतर्जातीय विवाह, विलम्ब विवाह, न्यायिक प्रथक्करण, विवाह–विच्छेद आदि वैवाहिक प्रवृत्तियाँ भी वर्तमान औद्यौगिक अर्थव्यवस्था का परिणाम हैं। इस प्रकार समाज की आर्थिक संस्थाएँ व्यक्ति की समाजीकरण की प्रक्रिया को प्रभावित करती हैं। आर्थिक संस्थाओं का सम्बंध मुख्यतः मनुष्य के जीविकोपार्जन से होता है। इन संस्थाओं के माध्यम से व्यक्ति परिश्रम, प्रतिस्पर्द्धा, उद्देश्यपूर्णता सहयोग व भविष्य की चिन्ता आदि परमावश्यक गुणों की प्राप्ति करता है। आर्थिक संस्थाएँ व्यक्ति को विभिन्न व्यवसायों तथा व्यापारिक संघों में बाँटती हैं। इनका प्रभाव उसके व्यक्तित्व पर निरन्तर पडता है।

सांस्कृतिक संस्थाएँ

समाज की सांस्कृतिक संस्थाएँ भी व्यक्ति के समाजीकरण की प्रक्रिया को प्रभावित करती है। संस्कृति के अन्तगर्त ज्ञान, विश्वास, प्रथा, कानून, आदर्श, मूल्य आदि व्यक्ति के व्यक्तित्व को एक विशेष दिशा प्रदान करते हैं। वास्तव में समाजीकरण की प्रक्रिया के अन्तगर्त मनुष्य जो गुण विचार एवं व्यवहार सीखता है वे सब संस्कृति के अन्तगर्त ही आते हैं। संस्कृति मनुष्य के व्यवहार को परिष्कृत करती है। संस्कृति की सहायता से व्यक्ति पशु के रूप में जन्म लेकर एक मानव अर्थात सामाजिक प्राणी

बनता है। **रॉबर्ट बीरस्टीड** के शब्दों में ''हम जन्म से मानव नहीं हैं वरन् अपनी संस्कृति को अर्जन करके ही मानव बनते हैं।'' इस प्रकार मनुष्य के समाजीकरण में संस्कृति का अत्याधिक महत्व है। संस्कृति के इसी महत्व एवं प्रभाव के कारण प्रत्येक समाज में समाजीकरण का क्रम अलग–अलग होता है क्योंकि प्रत्येक समाज की संस्कृति भिन्न– भिन्न होती है।

धार्मिक संस्थाएँ

व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास एवं समाजीकरण में धर्म भी महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करता है। बच्चा किस आयु में क्या सीखेगा, उसका पालन पोषण एवं शिक्षा किस प्रकार होगी, जन्म से लेकर मृत्यु तक किन–किन संस्कारों का पालन करेगा समाज में उसकी परिरिस्थति एवं उत्तरदायित्वों तथा उचित–अनुचित का निर्धारण आदि अन्ततः उद्देश्यों को प्राप्त करना चाहता है जो उसके व्यक्तित्व को संगठित करते हैं। मानव के इन अन्ततः उद्देश्यों का निर्धारण धर्म के द्वारा ही होतां है। धर्म के अन्तगर्त पाप–पुण्य, कर्म–पुनर्जन्म तथा नरक–स्वर्ग की धारणा व्यक्ति को उचित पुण्य धार्मिक कार्यों को करने की तथा अनूचित, पाप अधार्मिक एवं समाज–विरोधी कार्यों को न करने की प्रेरणा प्रदान करती है। धर्म व्यक्ति को अलौकिक शक्ति का भय दिखाकर सामाजिक नियमों का पालन करवाता है, भ्रातृत्व, सामुदायिक कल्याण तथा विश्वबन्धुत्व की भावना को विकसित करता है, व्यक्ति और समाज के पारस्परिक सम्बन्धों में स्थिरता उत्पन्न करता है। मानवीय कल्याण व विकास में योगदान देता है तथा जन्म से मृत्यु तक प्रत्येक व्यवहार को निश्चित करते हुए मनुष्य का जीवन भर साथ देता है। इसके साथ ही धर्म ज्ञान–प्राप्ति का वह साधन है जो व्यक्ति को ईश्वर के समकक्ष लाने में सहायता प्रदान करता है। **डेविस** ने कहा है कि धर्म समाज तथा व्यक्तित्व के समन्वय में सहायता करता है। **ओडिया** के शब्दों में ''धर्म समूह से मनुष्य का तारत्म्य स्थापित करता है, अनिश्चितता की स्थिति में उसकी सहायता करता है। उसे ढ़ाढस बंधाता है। समाज के लक्ष्यों से सम्बन्धित करता है और अन्दर तारत्म्य के तत्वों को पैदा करता है। ''व्यक्ति का धर्म से परिचय उस आयु में ही करा दिया जाता है जब वह धर्म को समझा भी नहीं है। धार्मिक संस्थाओं से व्यक्ति में नैतिकता, सच्चरित्रता, पवित्रता, कर्त्तव्यपरायणता, त्याग व बलिदान और शान्ति तथा न्याय के प्रति अनुराग विकसित होता है दूसरे के प्रति सहिष्णुता व सभी प्राणी समान हैं, इस तरह के विचारों को बच्चा इन्हीं संस्थाओं से ग्रहण करता है। धर्म व्यक्ति को उचित और अनुचित का ज्ञान देता है। इस प्रकार धर्म के द्वारा मनुष्य के समाजीकरण में सबसे बड़ी सहायता मिलती है। व्यक्ति का धर्म से परिचय उस आयु में ही करा दिया जाता है जब वह धर्म को समझता भी नहीं है। धार्मिक संस्थाओं से व्यक्ति में नैतिकता सच्चरित्रता, पवित्रता, कर्तव्यपरायणता, त्याग व बलिदान और शान्ति तथा न्याय के प्रति अनुराग विकसित होता है, दूसरों के प्रति सहिष्णुता व सभी प्राणी समान हैं इस तरह के विचारों को बच्चा इन्हीं संस्थाओं से ग्रहण करता है। धर्म व्यक्ति को उचित और अनुचित का ज्ञान देता है। इस प्रकार धर्म के द्वारा मनुष्य के समाजीकरण में सबसे बड़ी सहायता मिलती है।

राजनैतिक संस्थाएँ

व्यक्ति के समाजीकरण में योगदान देने वाली एजेन्सियों में राजनैतिक संस्थाओं का योगदान भी महत्वपूर्ण होता है। राज्य व्यक्ति के जीवन के पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक आदि सभी पहलुओं को प्रभावित करता है। आधुनिक जटिल समाजों में जहाँ व्यक्ति के पारस्परिक सम्बन्ध औपचारिक एवं अप्रत्यक्ष होते हैं। व्यक्ति के व्यवहारों को निश्चित, नियमित एवं नियंत्रित करने में राज्य

की भूमिका सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। राज्य व्यक्ति की आवश्कताओं की पूर्ति करके उसका मार्गदर्शन करके उसके समाजीकरण में योगदान करता है। **काम्टे**, **वार्ड** ,**गिडिंग्स**, **पैरेटो व हॉबहाऊस** आदि विद्वानों ने राज्य को अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं आवश्यक संस्था माना है। क्योंकि यह जटिल समाजों में सम्बन्धों को नियंत्रित करने के लिए और अपने सदस्यों की सुरक्षा के लिए सर्वाधिक उपयुक्त साधन है। राज्य के साथ–साथ कानून की भूमिका भी वर्तमान जटिल समाजों में व्यक्ति के अधिकारों एवं कर्तव्यों का निर्धारण करने एवं उनका मार्गदर्शन करने में अत्यधिक महत्तवपूर्ण है। व्यक्ति के अधिकारों एवं कर्तव्यों का बोध, निर्धारण एवं तद्नानुसार दिशा निश्चित करके कानून व्यक्ति के व्यक्तित्व को व्यवस्थित करने अर्थात समाजीकरण करने में योगदान देता है। व्यक्ति के समाजीकरण में कानून व्यवस्थित करने अर्थात समाजीकरण में योगदान देता है। व्यक्ति के समाजीकरण में कानून की भूमिका स्पष्ट करते हुए **मैलिनॉस्की** ने लिखा है कि ''कानून का मूलभूत कार्य व्यक्ति के प्राकृतिक उद्वेगों तथा मूलप्रवृत्तियों के प्रभाव को कम करना अथवा नियंत्रित करना है तथा अनिवार्य समाजीकृत व्यवहार को प्रोत्साहन देना है।'' उपर्यक्त विवेचन से स्पष्ट है कि समाजीकरण की प्रक्रिया को प्रभावित करने वाले अनेक प्राथमिक एवं द्वितियक समूह एवं संस्थाएँ अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण हैं। इनमें भी **किम्बाल यंग** के शब्दों में, ''समाज में समाजीकरण के विभिन्न माध्यमों में से परिवार सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। ''व्यक्ति ज्यों–ज्यों अपने जीवन की अनेक समस्याओं से जूझता है त्यों–त्यों उसके जीवन में राजनैतिक संस्थाओं का प्रवेश होता है। इन संस्थाओं कें द्वारा वह अपने वास्तविक विचारों का निर्माण करता है। राजनीतिक संस्थाएँ व्यक्ति को शासन, कानून, अधिकार, कर्त्तव्य व अनुशासन से परिचित कराती हैं। राजनीतिक प्रशासन का प्रकार तथा व्यक्ति को मिली स्वतंत्रता भी उसके व्यक्तित्व को काफी सीमा तक प्रभावित करती है। व्यक्ति विभिन्न राजनीतिक दलों की विचारधाराओं में से किसी एक विचारधारा को (जिसे वह अपने विचारों के अधिक नजदीक समझता है) समर्थन करना शुरू कर देता है। साथ ही नेताओं का अनुश्रवण करके तथा चुनाव इत्यादि राजनीतिक गतिविधियों में हिस्सा लेकर व्यक्ति काफी कुछ सीखता है।

ऐच्छिक संस्थाएँ

इसके अन्तर्गत ऐसी संस्थाएँ आती है जिनमें व्यक्ति का प्रवेश स्वाभाविक रूप में नहीं होता वरन् वह अपनी इच्छा अथवा अन्य व्यक्तियों कें आग्रह पर ऐसी संस्थाओं के सम्पर्क में आता है जिनका निर्माण व्यक्तियों द्वारा अपनी सांस्कृतिक गतिविधियों के संचालन और पूर्ति के लिए स्वंय किया जाता है। इनसे व्यक्ति का समाजीकरण और अधिक पुष्ठ तथा विस्तृत होता है। ऐच्छिक संस्थाएँ हमें प्रथा, परम्परा, आचार–विचार के ढंग, व्यवहार के तौर तरीके, आपसी संगठन व किसी त्रुटिपूर्ण परम्परा अथवा विचार का संगठित विरोध करना सीखाता है। ऐच्छिक संस्थाओं में विवाह का प्रमुख स्थान है। कुछ समाजशास्त्रियों का मत है कि विवाह व्यक्ति के समाजीकरण को काफी हद तक पूर्णता की प्राप्ति कराने वाला माध्यम है। इसके कारण व्यक्ति में इतने उच्च सामाजिक मूल्यों का समावेश होता है कि वह पूर्ण व्यक्तित्व को प्राप्त करता है और समाज को नई इकाइयाँ प्रदान करता है। विवाह के द्वारा वह उत्तरदायित्व, धैर्य, त्याग, पारिवारिक कल्याण, परोपकार और दूरदर्शिता के पाठ ग्रहण करता है।

2.5 सारांश

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि व्यक्ति के समाजीकरण की प्रक्रिया में एकाधिक सामाजिक अभिकरणों या साधनों का योगदान होता है। इनमें परिवार सबसे अधिक महत्वपूर्ण संस्था है। श्री **कुले**

का कथन है कि प्राथमिक समूह में परिवार का स्थान सबसे ऊपर है। परिवार के घनिष्ठ आंतरिक तथा स्नेह–प्रीतिपूर्ण संबंधों कें बीच बच्चा जो कुछ भी सीखता है वह उसके जीवन में चिरस्थायी हो जाता है। यही कारण है कि परिवार को नागरिक तथा समाजिक जीवन की आधारभूत पाठशाला कहा गया है। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि समाजीकरण की प्रक्रिया में परिवार ही सब कुछ है। वृहत्तर सामाजिक जीवन के लिए अन्य संस्थाओं का योगदान भी वास्तव में महत्वपूर्ण होता है। समाजीकरण की प्रक्रिया को प्रभावित करने वाले अनेक प्राथमिक एवं द्वैतीयक समूह व संस्थाएँ हैं। इनमें प्राथमिक समूह एवं संस्थाएँ अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण हैं।

2.6 शब्दावली

संस्थाएँः संस्थाएँ सामाजिक व्यवहार की सामूहिक प्रणालियाँ हैं। ये समाज द्वारा मान्य कार्य करने के ढंग हैं। इसलिए समाज अपने सदस्यों से संस्थागत व्यवहार की आशा रखता है।

अभिकरणः यह एक ऐसा माध्यम है जिसके द्वारा विभिन्न कार्यक्रमों को कार्यान्वित किया जाता है। अभिकरण को केन्द्रीकृत करके सामाजिक संस्थाओं की कार्यवाही को आगे बढ़ाया जाता है। यह अपने आप में एक एजेन्सी है जो सामाजिक प्रक्रियाओं को आगे बढ़ाने में मदद करता है।

2.7 अभ्यास हेतु प्रश्न एवं इसके उत्तर

1. 'समाजीकरण' के प्रारम्भिक चरण घर में ही प्रारम्भ होते हैं। ''यह परिभाषा किसने की है–
   अ) कूलेब) सैमुअल स) डेविस द) किम्बाल यंग
2. निम्न में से कौन सा समाजीकरण के महत्व का आधार नहीं है–
   अ) सामाजिक प्राणी बनने में सहायक
   ब) व्यक्तित्व के विकास में सहायक
   स) व्यवहारों पर नियंत्रण
   द) कृषि का विकास
3. निम्नलिखित में से किसे समाजीकरण का सर्वाधिक महत्वपूर्ण माध्यम माना जाता है–
   अ) परिवार ब) क्रीडा समूह स) पड़ोस द) विद्यालय
4. निम्न में कौन सा समाजीकरण के द्वितीयक संस्था का सही विकल्प है–
   अ) विवाह ब) नातेदारी समूह स) आर्थिक समूह द) पड़ोस

<u>उत्तरमाला</u>

1. (ब) 2. (द) 3. (अ) 4. (स)

2.8 संदर्भ ग्रंथ सूची

रवीन्द्र नाथ मुकर्जी–भारतीय समाज व संस्कृति (2006), विवेक प्रकाशन, जवाहर नगर–दिल्ली

2.9 सहायक/उपयोगी पाठ्यसामग्री

गुप्ता एवं शर्मा–समाजशास्त्र (1998), साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा।

2.10 निबंधात्मक प्रश्न

1. समाजीकरण के प्रमुख साधन या अभिकरण कौन से हैं? व्याख्या कीजिए।
2. समाजीकरण से आप क्या समझते हैं? व्यक्ति के समाजीकरण में परिवार तथा विद्यालय के योगदान को समझाइये।
3. समाजीकरण की प्रमुख संस्थाओं का वर्णन कीजिए।
4. समाजीकरण की प्रत्याशित अवस्था से आप क्या समझते हैं?

इकाई–3

समाजीकरण के सिद्धांतः दुर्खीम, कूले और मीड

इकाई की रूपरेखा

3.1 उद्देश्य

3.2 प्रस्तावना

3.3 अवधारणा

3.4 सिद्धांत का अर्थ

3.5 समाजीकरण के सिद्धांत

3.6 दुर्खीम के सिद्धांत

3.7 कूले के सिद्धांत

3.8 मीड के सिद्धांत

3.9 सारांश

3.10 शब्दावली

3.11 अभ्यास हेतु प्रश्न एवं उत्तर

3.12 संदर्भ ग्रंथ सूची

3.13 सहायक/उपयोगी पाठ्यसामग्री

3.14 निबंधात्मक प्रश्न

3.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप समझ पायेंगे कि –

- वास्तविक रूप में समाजीकरण के सिद्धांत क्या है।
- दुर्खीम, कूले और मीड के समाजीकरण के सिद्धांत का क्या महत्व है।
- समाजीकरण के सिद्धांत का समाज में क्या भूमिका है।

3.2 प्रस्तावना

व्यक्ति के समाजीकरण में समाज या विभिन्न सामाजिक संस्थाओं के महत्व को सभी स्वीकार करते हैं। परिवार सामाजिक जीवन की आधारभूत इकाई होता है और इसलिए वह समाजीकरण की प्रक्रिया में सर्वाधिक भूमिका अदा करता है। उसी प्रकार सुझाव, अनुकरण, सहानुभूति आदि कुछ मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाएँ भी सामाजीकरण में सहायक होती हैं। इनका विश्लेषण वास्तव में एक जटिल कार्य है। एक सामाजिक–मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया जिसके द्वारा हम समाज के सक्रिय सदस्य बनते हैं। इस प्रक्रिया में समाज के मानदंडों और मूल्यों के आन्तरीकरण के साथ–साथ अपनी सामाजिक भूमिकाओं को संपादन करना और सीखना दोनों बातें सम्मिलित होती है। इसी प्रक्रिया के द्वारा 'स्व' का विकास होता है।

3.3 अवधारणा

विभिन्न परिवर्त्यों या चर के बाहय कारणात्मक संबंधों को प्रदर्शित करने वाले प्रस्थापनाओं के एक समूह को सिद्धांत कहते हैं। यह एक ऐसा सामान्यीकरण है जिसे तथ्यों के एक वृहद् समूह के प्रमाणीकरण के बाद प्राप्त किया जाता है। सिद्धांत किसी घटना के संबंध में 'क्यों' और 'कैसे' के प्रश्नों के उत्तर देने का एक तरीका है। व्यक्ति के समाजीकरण की प्रक्रिया को समाज की अनेक संस्थाएँ, माध्यम एवं एजेन्सियाँ प्रभावित करती हैं। इनमें परिवार, क्रीडा–समूह, पड़ोस, नातेदारी, समूह, स्कूल, जाति, वर्ग तथा अन्य अनेक आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक संस्थाएँ अधिक महत्वपूर्ण है। इनके अतिरिक्त सुझाव, अनुकरण, सहानुभूति आदि मानसिक प्रक्रियाएँ भी समाजीकरण की प्रक्रिया को प्रभावित करती हैं।

3.4 सिद्धांत का अर्थ

सिद्धांत शब्द का प्रयोग अत्यंत सामान्य अर्थ में 'व्यावहारिक' के विपर्यय के अर्थ में भी कर लिया जाता है। एक वैज्ञानिक सिद्धांत अनुभवजन्य परीक्षणीय प्रस्थापनाओं के तार्किक रूप में अर्न्तसम्बंधित समूह को कहते हैं। सिद्धांत परिवर्त्यों की बीच संबंधों से बनता है। समाजीकरण की प्रक्रिया किस प्रकार होती है तथा इसमें क्या–क्या प्रेरणाएँ कार्य करती हैं। इसका उत्तर देने के लिए समाजशास्त्रियों ने कुछ सिद्धातों का प्रतिपादन किया है। इन सभी सिद्धातों ने 'स्व' के विकास को प्रमुख आधार माना है। 'स्व' के विकास का अर्थ व्यक्ति का स्वयं के बारे में ज्ञान है जो व्यक्ति को समाज में अन्तःक्रियाएँ करने हेतु समर्थ बनाता है।

3.5 समाजीकरण के सिद्धांत

समाजीकरण एक अत्यंत जटिल प्रक्रिया है। इस जटिल प्रक्रिया का पूर्ण एवं व्यवस्थित विश्लेषण करना वस्तुतः बहुत कठिन कार्य है। समाजशास्त्रियों ने समाजीकरण के सिद्धांत को 'आत्म या स्व के विकास' के आधार पर समझाने का प्रयत्न किया है। ''आत्म'' कोई शारीरिक न होकर मानसिक तथ्य है। व्यक्ति के समाजीकरण में ''आत्म'' या ''स्व'' का उद्भव और विकास केन्द्र बिन्दु है। कुछ प्रमुख ''विद्वानों'' ने समाजीकरण के सिद्धांत को विश्लेषण करने का प्रयास किया है जो निम्नलिखित है–

3.6 दुर्खीम का सिद्धांत

दुर्खीम ने अपनी पुस्तक 'Sociology and Philosophy' में सामूहिक प्रतिनिधान (Collective Representation) की धारणा के आधार पर समाजीकरण के सिद्धांत का प्रतिपादन किया है। दुर्खीम के अनुसार प्रत्येक समाज में कुछ सामान्य विचार, भावनाएँ, धारणाएँ, आदर्श, विश्वास आदि होते हैं जिनका समाज के अधिकांश सदस्य पालन करते हैं। सम्पूर्ण समूह की अभिमति होने के कारण ये सम्पूर्ण समूह का प्रतिनिधित्व करते हैं। इन्हीं सामान्य विचारों, धारणाओं और मूल्यों को **दुर्खीम** ने सामूहिक प्रतिनिधान कहा है।

एक ओर सामूहिक स्वीकृति होने के कारण और दूसरी ओर सामाजिक मूल्यों से सम्बन्धित होने के कारण ये अत्याधिक प्रभावशाली होते हैं। इसलिए ये व्यक्ति के व्यवहार को प्रभावित करते रहते हैं। समाजीकरण का उददेश्य व्यक्ति में सामूहिक प्रतिनिधानों के अनुसार व्यवहार करने की आदत उत्पन्न करना है। माता–पिता, मित्र, अध्यापक आदि सामूहिक प्रतिनिधानों के अनुसार बच्चे पर नियंत्रण करके उसके व्यक्तित्व को सही दिशा में विकसित करते हैं। बच्चा सामूहिक प्रतिनिधानों को माता–पिता की सहायता से स्वीकार करता है और धीरे–धीरे ये उसके व्यक्तित्व के अंग बन जाते हैं। इस प्रकार सामूहिक प्रतिनिधान समाजीकरण का उददेश्य भी है और साधन भी।

प्रारम्भ में इनका सम्बन्ध व्यक्तित्व चेतना से होता है, किन्तु सभी लोगों की पारस्परिक अन्तःक्रिया के कारण सामूहिक चेतना का निर्माण होता है। जो सामूहिक प्रतिनिधान के उदाहरण हैं। इन सभी का निर्माण किसी व्यक्ति विशेष द्वारा नहीं होता वरन् समूह अथवा समाज के सभी या अधिकांश लोगों द्वारा होता है। अतः समूह के सभी लोग इनका पालन करते हैं, मानते हैं एवं उनके अनुसार आचरण करते हैं। सामूहिक प्रतिनिधानों का पालन करना व्यक्ति अपना दायित्व समझते हैं। इनके पीछे नैतिकता का दबाव होता है, समाज इन्हें मानने के लिए व्यक्तियों को बाध्य करता है। इनकी अवहेलना करने पर सामूहिक प्रतिक्रिया होती है, दण्ड की व्यवस्था की जाती है। इस प्रकार समाज के रीति–रिवाज़ों, प्रथाओं, कानूनों, संस्थाओं, धर्म एवं आदर्शों, आदि को सामूहिक जीवन के द्योतक होने के कारण ही सामूहिक प्रतिनिधान कहा गया है।

व्यक्ति इन सामाजिक प्रतिनिधानों को सीखता है, आत्मसात् करता है और उनके अनुरूप आचरण करता है, इससे उसका समाजीकरण होता है। अन्य शब्दों में, व्यक्ति द्वारा सामाजिक प्रतिनिधानों का आन्तरीकरण करना ही समाजीकरण है। व्यक्ति ज्यों–ज्यों सामाजिक प्रतिनिधानों को आत्मसात् करता जाता है, त्यों–त्यों उसका समाजीकरण होता जाता है। सामूहिक विचारों एवं धारणाओं को व्यक्ति किस प्रकार मानता और उनके अनुसार आचरण करता है, इसे हम एक उदाहरण द्वारा इस प्रकार स्पष्ट कर सकते हैं। व्यक्ति जब भीड़ में होता है तो वैसा ही व्यवहार करने लगता है जैसा दूसरे व्यक्ति कर रहे होते हैं। यदि भीड़ तोड़ फोड़, हिंसा व अनैतिकता पर उतारू है तो उसमें सम्मिलित सभी व्यक्ति वैसा ही करने लगते हैं।

भीड़ में व्यक्ति की व्यक्तिगत इच्छा दब जाती है, रीति–रिवाज, आदर्श और मूल्य जो कि सामाजिक प्रतिनिधान हैं, व्यक्ति को पूरी तरह से प्रभावित करते हैं और उसे अपनी व्यक्तिगत इच्छाओं का दमन करके भी उन्हें मानने को बाध्य करते हैं। इनके अनुरूप आचरण करने के अतिरिक्त उसके सामने कोई अन्य चारा नहीं होता। सामाजिक प्रतिनिधानों का दबाव उसमें सामाजिक गुणों का विकास करता है, उसे समाज के अनुरूप बनाकर उसका समाजीकरण करता है।

दुर्खीम ने समाजीकरण की प्रक्रिया को सामूहिक प्रतिनिधान (प्रतिनिधित्व) के आधार पर समझाने का प्रयास किया है। इनका सिद्धान्त पूर्णतः सामाजिक है तथा यह व्यक्ति और समाज के परस्पर सम्बन्धों में समाज

को अधिक महत्व देता है। इनके अनुसार सामूहिक प्रतिनिधानों का आन्तरीकरण अर्थात सामूहिक मान्यताओं को आत्मसात करना ही समाजीकरण है। समाज में व्यवहार के जो मान्यता प्राप्त प्रतिमान, मूल्य, विश्वास एवं आदर्श होते हैं, उन्हीं को सामूहिक प्रतिनिधान कहा जाता है। ये सामाजिक विरासत के रूप में पीढ़ी–दर–पीढ़ी हस्तान्तरित होते रहते हैं तथा जैविक व्यक्ति द्वारा इन सामूहिक प्रतिनिधानों को सीखना एवं इनके अनुकूल व्यवहार करने के लिए प्रेरित करना ही समाजीकरण कहलाता है।

सामूहिक प्रतिनिधान, क्योंकि सम्पूर्ण समूह अथवा समाज द्वारा बनाए जाते हैं स्वं स्वीकृत होते हैं, इसलिए वे सामाजिक तथ्य हो हैं। **दुर्खीम** ने सामूहिक प्रतिनिधानों को सामाजिक तथ्यों की दोनों प्रमुख विशेषताओं (1) ये व्यक्ति से बाहर हैं तथा (2) इनमें बाध्यता पाई जाती है–से युक्त बताया है। सामूहिक प्रतिनिधान के आन्तरीकरण को **दुर्खीम** ने सामूहिक या सामाजिक अन्तःकरण से जोड़ा है। सामूहिक चेतना का विकास यद्यपि व्यक्तिगत चेतनाओं से होता है, फिर भी यह न तो व्यक्तिगत चेतना ही है और न ही व्यक्तिगत चेतनाओं का संकलन मात्र। यह तो बहुत–सी व्यक्तिगत चेतनाओं के सम्मिश्रण द्वारा विकसित एक ऊँचे एवं श्रेष्ठ स्तर की चेतना होती है। सामूहिक प्रतिनिधान समूह अथवा समाज द्वारा स्वीकृत होने के कारण, प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा (व्यक्तिगत आत्मा) में विलीन हो जाते हैं। सभी लोगों द्वारा स्वीकार कर लेने पर ये सामूहिक अन्तःकरण (चेतना) का रूप ले लेते हैं।

इसलिए समाज का प्रत्येक व्यक्ति इन्हें बिना प्रश्न चिन्ह या चुनौती दिए स्वीकार कर लेते हैं। **दुर्खीम** के अनुसार सामूहिक प्रतिनिधान सामाजिक एकता बनाए रखने में सहायक है। संक्षेप में, कहा जा सकता है कि सामूहिक प्रतिनिधानों को सामूहिक अन्तःकरण के रूप में व्यक्ति द्वारा आन्तरीकरण व आत्मसात करना ही समाजीकरण है। जैसे–जैसे व्यक्ति इनको आत्मसात करता जाता है वैसे–वैसे उसका समाजीकरण भी होता रहता है।

3.7 कूले के सिद्धांत

समाजीकरण का दूसरा प्रमुख सिद्धान्त **चार्ल्स कूले** द्वारा प्रतिपादित किया गया है। इन्होंने **Social organization** एवं **Human Nature and the Social Order** नामक अपनी पुस्तकों में यह कहने का प्रयास किया है कि एक जैविक प्राणी किस प्रकार से सामाजिक प्राणी बनता है। यह सिद्धान्त भी सामाजिक है क्योंकि इसका आधार भी व्यक्ति और समाज के परस्पर सम्बन्ध का मूल्यांकन है। कूले के अनुसार बच्चा तीन बातों के बारे में सोचता है–

1) दूसरे मेरे बारे में क्या सोचते हैं?

2) दूसरों की राय के सन्दर्भ में मैं अपने बारे में क्या सोचता हूँ?

3) मैं अपने बारे में सोचकर अपने को कैसा मानता हूँ?

इन तीन बातों को स्पष्ट करने के लिए **हार्टन व हण्ट** ने एक उदाहरण दिया है–मान लीजिए आप एक कमरे में प्रवेश करते हैं जहाँ कुछ व्यक्ति एक समूह में परस्पर बातें कर रहे हैं। आपके आते ही वे बहाना बनाकर वहाँ से चले जाते हैं और ऐसा कई बार होता है तो आपको अपने बारे में हीनता की भावना महसूस होगी। इसके विपरीत, आपके कमरे में प्रवेश करने पर सभी व्यक्ति आपको घेर लेते हैं और आपसे चर्चा करना चाहते हैं तो

आपको गर्व महसूस होगा। इस प्रकार दूसरे व्यक्ति हमारे प्रति जिस प्रकार की प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं हम अपने बारे में वैसी धारणा बनाते हैं। इसे हम एक अन्य उदाहरण द्वारा भी स्पष्ट कर सकते हैं।

हम किसी स्त्री को बार–बार यह कहें कि तुम सुन्दर या असुन्दर हो तो वह अपने को सुन्दर या असुन्दर महसूस करने लगेगी और वैसा ही आचरण करने लगेगी। इस प्रकार दूसरों के द्वारा व्यक्त प्रतिक्रिया के आधार पर ही व्यक्ति अपने को सुन्दर–असुन्दर, मिलनसार, झगड़ालू, मूर्ख–बुद्धिमान तथा हीन व श्रेष्ठ समझने लगता है। किन्तु कई बार ऐसा भी होता है कि दूसरे हमारे बारे में जो राय बनाते हैं, उसे जिस रूप में हम सोचते हैं उसमें तथा वास्तव में दूसरों द्वारा हमारे प्रति बनायी गयी धारणा में अन्तर होता है। कई बार हम दूसरों द्वारा अपने बारे में बनायी गयी राय को गलत समझ लेते हैं। अक्सर हम अपने बारे में दूसरों की वैसी धारणा बना लेते हैं जो समूह के प्रति हमारे मन में होती है। अतः कभी–कभी 'स्व' निर्माण गलत धारणा पर हमारी प्रशंसा करते हैं तो हम यह सोचने लगते हैं कि हम प्रशंसनीय है। जबकि वास्तविकता यह होती है कि हमारे मित्र हमें इतना योग्य नहीं समझते। इस प्रकार हमारे द्वारा अपने बारे में मित्रों की प्रशंसा पर बनायी गयी धारणा त्रुटिपूर्ण है।

कूले ने अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों को स्पष्ट करने के सन्दर्भ में किया। उनका मत है कि समाज के सम्पर्क में आने पर ही व्यक्ति के 'आत्म' का विकास होता है। समाज व्यक्ति के लिए दर्पण का कार्य करता है, वह उसमें अपनी छवि देखता है और समाज के लोग उसके बारे में क्या कहते हैं, इसी आधार पर वह अपने बारे में अपनी धारणा बनाता है। जिस प्रकार से हम आइना देखकर यह ज्ञान करते है कि हम अमुक पोशाक पहनने पर कैसे लगते हैं, बाल ठीक से संवारे हुए हैं या नहीं, मेक–अप कैसा लग रहा है, आदि। इस प्रकार इसी आधार पर वह अपने बारे में राय बनाता है। इसी राय के आधार पर ही उसमें हीनता या श्रेष्ठता के भाव पैदा होते हैं। उदाहरण के लिए, जब परिवार के लोग, मित्र या अन्य लोग उसके बारे में यह कहते हैं कि वह बुद्धिमान है, लम्बा है, शक्तिशाली है, आकर्षक है, या गन्दा है, मूर्ख, कमजोर या ठिगना, लड़ाकू, क्रोधिला है तो व्यक्ति भी अपने बारे में वैसा ही सोचने लगता है। इस प्रकार अपने बारे में दूसरों की प्रतिक्रिया स ही व्यक्ति के 'स्व' का निर्माण होता है। इसलिए ही **कूले** इसे 'आत्म दर्पण दर्शन' कहते हैं। **हार्टन व हण्ट** का मत है कि कूले ने Looking glass self शब्द थेकरे की 'वेनिटी केयर' नाम कृति से लिया है। **थेकरे** कहते हैं, 'संसार एक दर्पण है जो प्रत्येक व्यक्ति को उसका स्वयं का चेहरा प्रतिबिम्बित करता है। आप भौंहे चढ़ाइये तो इसमें आप चिड़चिड़े दिखायी देगें, आप इसकी ओर तथा इसके साथ हँसिये तो यह आपका खुशमिजाज व कृपालू साथी होगा। इस प्रकार **कूले** के अनुसार व्यक्ति का दूसरों से सम्पर्क होने से ही 'स्व' का निर्माण होता है जो कि समाजीकरण का प्रमुख आधार है। स्व के निर्माण के आधार पर ही व्यक्ति अपना मूल्यांकन करता है, वह अपने को हीन या श्रेष्ठ समझता है और समाजीकरण की दिशा तय करता है। व्यक्ति समाज का ही प्रतिविम्ब है। **कूले** का कहना है कि व्यक्ति समाज रूपी दर्पण में अपना विम्ब देखता है। इससे वह यह जानने का प्रयास करता है कि दूसरे उसके बारे में क्या सोचते हैं। यह जान लेने के पश्चात् कि दूसरे उसके बारे में क्या सोचते हैं, वह अपने बारे में राय बनाता है। इस राय के परिणामस्वरूप बच्चे में हीनता या श्रेष्ठता के भाव विकसित होते हैं अर्थात् यदि उसे लगता है कि दूसरे उसके बारे में अच्छे विचार रखते हैं तो उसमें श्रेष्ठता की भावना आ जाती है। और इसके विपरीत यदि उसे लगता है कि दूसरे उसके बारे में अच्छी राय नहीं रखते, तो उसमें हीन–भाव आ जाते हैं। हम निरन्तर समाज रूपी दर्पण में अपना विम्ब देखते रहते हैं। अतः 'स्व' के बारे में हमारी धारणा स्थायी नहीं है अपितु समय–समय पर बदलती रहती है।

चार्ल्स कूले ने 'सामाजिक अन्तःक्रिया' के आधार पर समाजीकरण की प्रक्रिया की व्याख्या की हैं। उनके अनुसार जब तक व्यक्ति अन्य 'व्यक्तियों के सम्पर्क में नही आता अर्थात् उनके साथ अन्तःक्रिया नहीं करता तब तक उसका समाजीकरण नहीं हो सकता। समाजिक अन्तःक्रिया के परिणामस्वरूप व्यक्ति में 'स्व' अथवा 'आत्म' जो समाजीकरण की आत्मा है, का विकास होता है। इस प्रकार **कूले** ने समाजिक अन्तःक्रिया तथा 'स्व' के आधार पर अपने विचारों को स्पष्ट किया है। व्यक्ति के 'स्व' अथवा 'आत्म' को तीन मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं की सहायता से समझा जा सकता है। इस प्रकार अन्य व्यक्तियों के साथ अन्तःक्रिया के दौरान, उपर्युक्त तीनों प्रक्रियाओं के आधार पर, व्यक्ति के आत्म का विकास होता हैं व्यक्ति के यही विचार विश्वास एवं आदतें उसके समाजीकरण के लिए उत्तरदायी है। संक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि बच्चा समाज रूपी दर्पण में आत्मदर्शन द्वारा अपना मूल्यांकन करता है और इस मूल्यांकन के परिणमस्वरूप जो भाव (श्रेष्ठता या हीनता के भाव) उसमें विकसित होते है, उसी से उसकी समाजीकरण की दिशा निर्धारित होती है। अतः इन्होंने समाजीकरण एवं 'स्व' के विकास को प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित किया है।

3.8 मीड के समाजीकरण का सिद्धान्त

समाजीकरण की एक अन्य मनोवैज्ञानिक व्याख्या मीड द्वारा प्रस्तुत की गई है। 'स्व' के विकास सम्बन्धी इनके विचार इनकी पुस्तक **Mind, Self and Society** में मिलते हैं। **मीड फ्रायड** के विचारों से सहमत नहीं थे। इनके अनुसार 'स्व' का विकास अनुकरण की प्रक्रिया के परिणामस्वरूप होता है। शिशु अपने प्रारम्भिक जीवनकाल में जिस किसी व्यक्ति के सम्पर्क में आता है, वह उनके व्यवहार का अनुकरण करने का प्रयास करता है। इस प्रकार मीड ने अपने सिद्धान्त में 'स्व' के विकास में बालक द्वारा अपने प्रति जागरूकता तथा दूसरों की दृष्टि से अपने मूल्यांकन में महत्वपूर्ण माना है। इसे इन्होंने दो भागों ''मैं'' (I) तथा मुझे (Me) शब्दों द्वारा व्यक्त किया है। 'मैं' दूसरों के व्यवहार का प्रत्युत्तर है, जबकि 'मुझे' मेरे द्वारा किया गया व्यवहार है। 'मै' और 'मुझे' एक ही चीज के दो पहलू (अर्थात विषय व वस्तु) हैं जिनमे समाजीकरण होता है। दूसरों की दृष्टि से वह अपना मूल्यांकन इसलिए करता है क्योंकि वह जानता है कि दूसरों को सन्तुष्ट करके ही उसकी अपनी इच्छाएँ पूरी हो सकती हैं और उसे स्वयं को सन्तुष्टि मिल सकती है। **मीड** ने इस सिद्धान्त को **'सामान्यीकृत अन्य'** की अवधारणा द्वारा समझाने का प्रयास किया है। 'सामान्यीकृत अन्य' शब्द से अभिप्राय व्यक्ति की दूसरों के मूल्यांकन द्वारा अपने बारे में बनी धारणा है जिसका कि वह आन्तरीकरण कर लेता है। वह अपनी भूमिका निभाने के साथ–साथ अपनी तुलना 'सामान्यीकृत अन्य' से करता है और इसी से उसका समाजीकरण होता है। जब कोई व्यक्ति 'स्व' को समझने के लिए दूसरों की भूमिका को ग्रहण नहीं कर पाता है तो उसके व्यक्तित्व के विकास में बाधा उत्पन्न होन लगती है। मीड के अनुसार समाजीकरण की प्रक्रिया में भूमिका ग्रहण करना एक अत्यावश्यक प्रक्रिया है।

मीड ने अपनी पुस्तक में समाजीकरण सम्बन्धी अपने विचार प्रकट किये हैं। **मीड** यह मानते हैं कि व्यक्ति ही समाज का निर्माता है जिसमें दिमाग और 'स्व' होता है। 'स्व' मौलिक रूप से एक सामाजिक संरचना है और यह समाजिक अनुभवों के कारण ही पैदा होता है। 'स्व' के जन्म के बाद ही व्यक्ति सामाजिक अनुभव करता है। **मीड** ने उस प्रक्रिया का भी उल्लेख किया है। जिसके एक जैविकीय व्यक्ति होता है जिसमें बुद्धि का अभाव होता है। **जार्ज मीड** ने आत्म को 'स्वयं' के सम्बन्ध में चेतना कहा है। उसके अनुसार व्यक्ति के अन्दर इस आत्म की

चेतना होना ही समाजीकरण है। व्यक्ति में स्वयं के सम्बन्ध में चेतना समाजिक अन्तःक्रिया के परिणामस्वरूप विकसित होती है।

समाज के सम्पर्क के कारण बच्चा जो कुछ सीखता है, उसे वह पुनः गुड़ियों के खेल के दौरान प्रकट करता है। चोर, डाकू व पुलिसमैन तथा माता–पिता व भाई–बहिनों की भूमिका वह खेल के दौरान प्रकट करता ह। आपस में ही बच्चे मम्मी–पापा या चोर–पुलिस बनकर वैसा ही व्यवहार प्रकट करते हैं। जैसा उन्होंने वास्तव में उन दोनों को व्यवहार करते देखकर सीखा है। अनुकरण, संकेत एवं भाषा के माध्यम से बच्चा दूसरों के व्यवहारों को ग्रहण करता है और उसमें विभिन्न प्रकार की भूमिकाएँ निभाने की क्षमताएँ पैदा हो जाती है। इसी स्थिति को मीड 'आत्म का विकास' कहते है। **मीड** के इस सिद्धान्त को हम संक्षेप में इस प्रकार प्रकट कर सकते हैं। (1) समाजीकरण का अर्थ व्यक्ति के 'आत्म' के समुचित विकास से है, (2) 'आत्म' का विकास दूसरे लोगों के 'सामन्यकृत व्यवहार' को अपने व्यवहार में समावेश करने से होता है।, (3) 'आत्म' के विकास के बाद व्यक्ति जैविकीय प्राणी से 'सामाजिक रूप' में आत्म चेतन के रूप में बदल जाता है एवं संवेगात्मक व्यक्तित्व के प्रभाव को कम कर देता है, (4) स्वयं में तथा अन्य व्यक्तियों में भेद करने की चेतना पैदा होना ही आत्म का विकास है। और इसी आधार पर वह दूसरों के प्रति अपने व्यवहार को निश्चित करता है, तरह–तरह की आदतें सीखता है अर्थात् अपना समाजीकरण करता है। **मीड** के अनुसार व्यक्ति के जीवन के दो पक्ष होते हैं–प्राणिशास्त्रीय और सामाजिक अथवा स्वचेतन। प्राणिशास्त्रीय व्यक्ति पशुवत होता है, इसमें तर्क एक बुद्धि का अभाव होता है। इसके विपरीत सामाजिक अर्थात् स्वचेतन व्यक्ति तर्क एवं बुद्धि द्वारा संचालित होता है।

प्राणीशास्त्रीय व्यक्ति से सामाजिक अथवा स्वचेतन व्यक्ति बनने की प्रक्रिया को ही **मीड** ने समाजीकरण कहा है। **मीड** के अनुसार, जन्म के समय व्यक्ति केवल एक जैविकीय व्यक्ति होता है। उसके जन्म के साथ ही समाजीकरण की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। इसके पश्चात माता–पिता, भाई–बहिन, मित्र, अध्यापक एवं विचारों, भावों, मान्यताओं, मूल्यों आदि का आन्तरीकरण कर लेता है। इन सबके साथ अन्तःक्रिया के दौरान वह स्वयं के बारे में एक विशिष्ट धारणा का निर्माण कर लेता है। उसकी यह धारणा अन्य व्यक्तियों के विचारों एवं व्यवहारों से प्रभावित होती है और यही धारणा उसका वास्तविक 'आत्म' है जो उसके व्यक्तित्व के विकास का आधार है। इस प्रकार 'मै' और 'मुझे' का ज्ञान ही बच्चे का समाजीकरण है। स्पष्ट है कि **मीड** के अनुसार समाजीकरण सामाजिक अन्तःक्रिया का परिणाम है।

3.9 सारांश

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर सारांश स्वरूप यह उल्लेख किया जा सकता है कि सामूहिक प्रतिनिधानों को सामूहिक अन्तःकरण के रूप में व्यक्ति द्वारा आन्तरीकरण व आत्मसात करना ही समाजीकरण है। **दुर्खीम** के अनुसार सामूहिक प्रतिनिधान सामाजिक एकता बनाए रखने में सहायक है। जैसे–जैसे व्यक्ति इनको आत्मसात करता जाता है वैसे–वैसे उसका समाजीकरण भी होता रहता है। **कूले** के अनुसार, बच्चा समाज रूपी दर्पण में आत्मदर्शन द्वारा अपना मूल्यांकन करता है और इस मूल्यांकन के परिणामस्वरूप, जो भाव (श्रेष्ठता या हीनता के भाव) उसमें विकसित होते हैं, उसी से उसकी समाजीकरण की दिशा निर्धारित होती है। अतः इन्होंने समाजीकरण एवं 'स्व' के विकास को प्रत्यक्ष रूप से संबंधित किया है। है। इन्होंने अपने सिद्धान्त प्रतिपादित कर यह बताने का प्रयास किया है कि व्यक्ति का समाजीकरण किस प्रकार से होता है? उसकी मानसिक स्थिति क्या होती है? मनोवैज्ञानिकों एवं समाजशास्त्रियों ने समाजीकरण के सिद्धान्त को 'आत्म या स्व के विकास' के आधार पर

समझाने का प्रयत्न किया है। अमरीकन समाजशास्त्री कूले ने अपनी पुस्तक में अपने समाजीकरण सम्बन्धी सिद्धान्त को प्रस्तुत किया है। उनका सिद्धान्त 'आत्म दर्पण दर्शन सिद्धान्त' के नाम से भी जाना जाता है। कूले ने अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों को स्पष्ट करने के सन्दर्भ में किया। उनका मत है कि समाज के सम्पर्क में आने पर ही व्यक्ति के 'आत्म' का विकास होता है।

जिस प्रकार से हम आइना देखकर यह ज्ञात करते हैं कि हम अमुक पोशाक पहनने पर कैसे लगते हैं, बाल ठीक से संवारे हुए हैं या नहीं, मेक–अप कैसा लग रहा है, आदि। इसी प्रकार से बालक भी समाज रूपी आइने में अपने आपको देखता है। समाज के लोग उसके बारे में क्या कहते हैं, इसी आधार पर वह अपने बारे में राय बनाता है। इसी राय के आधार पर ही उसमें हीनता या श्रेष्ठता के भाव पैदा होते हैं। इस प्रकार अपने बारे में दूसरों की प्रतिक्रिया से ही व्यक्ति के 'स्व' का निर्माण होता है। इसलिए ही कूल इसे 'आत्म दर्पण दर्शन' कहते हैं। **थेकरे** कहते हैं, संसार एक दर्पण है जो प्रत्येक व्यक्ति को उसका स्वयं का चेहरा प्रतिबिम्बित करता है। आप हंसिये तो यह आपका खुशमिजाज़ व कृपालू साथी होता और आप भौंहे चढ़ाइये तो इसमें आप चिड़चिड़े दिखाई देगें।

जी0एच0मीड ने अपने सिद्धांत को 'सामान्यीकृत अन्य' की अवधारणा द्वारा समझाने का प्रयास किया है। इस शब्द से अभिप्राय व्यक्ति को दूसरों के मूल्यांकन द्वारा अपने बारे में बनी धारणा है जिसका कि वह आंतरीकृत कर लेता है। वह अपनी भूमिका निभाने के साथ–साथ अपनी तुलना 'सामान्यीकृत अन्य' से करता है और इसी से उसका समाजीकरण होता है। जब कोई व्यक्ति 'स्व' को समझने के लिए दूसरों की भूमिका को ग्रहण नहीं कर पाता है तो उसके व्यक्तित्व के विकास में बाधा उत्पन्न होने लगती है। **मीड** के अनुसार, जन्म के समय व्यक्ति केवल एक जैविकीय व्यक्ति होता है। उसके जन्म के साथ ही समाजीकरण की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है।

3.10 शब्दावली

सामूहिक प्रतिनिधान (Collective Representation)

समाज द्वारा मान्य उन विचारों, धारणाओं, भावनाओं तथा प्रतीकों को सामूहिक प्रतिनिधान की संज्ञा दी जाती है जो सामूहिक रूप से समस्त समूह का प्रतिनिधित्व करते हैं। इन्हें समाज के सदस्य आदर की दृष्टि से देखते हैं। इनका निर्माण सामाजिक अन्तक्रियाओं के दौरान या व्यक्तिगत चेतना के पारम्परिक प्रभावों के फलस्वरूप होता है।

ये ही बाद में सामाजिक प्रतीकों के रूप में विकसित हो जाते हैं। राष्ट्रीय ध्वज सामूहिक प्रतिनिधार का एक श्रेष्ठ उदाहरण है जो समूह विशेष अर्थात किसी राष्ट्र की भावनाओं का प्रतिनिधित्व करता है।

आत्मदर्पण (Looking Glass Self)

दूसरे व्यक्तियों द्वारा व्यक्त प्रतिक्रिया के आधार पर 'स्व' का निर्माण होता है। इस प्रतिक्रिया को **सी0एच0कूले** ने 'आत्मदर्पण' कहा है। इस प्रक्रिया में दूसरे व्यक्ति अर्थात् समाज, दर्पण का कार्य करता है। जिसमें व्यक्ति अपनी छवि देखता है। यह छवि दूसरे व्यक्तियों की उस व्यक्ति के प्रति व्यक्त प्रतिक्रिया होती है।

दूसरे व्यक्ति उसके विषय में क्या सोचते हैं या क्या कहते हैं, इसी के आधार पर वह अपने विषयक में जो धारणा बनाता है, वह 'स्व; की रचना है। इसे 'सामाजिक स्व' भी कहते हैं।

इद्म (Id)

व्यक्तित्व विभाजन की अपनी योजना में प्रसिद्ध मनोविश्लेषक **एस0फ्रायड** ने अचेतन की संज्ञा दी है जो अव्यवस्थित, जन्मजात, मूलप्रवृत्यात्मक, आवेगों को तत्काल तृष्टि के गुणों से युक्त होता हैं इद्म का निर्माण दमित, पाशविक एवं असमाजिक इच्छाओं एवं आवेगों द्वारा होता है। व्यक्तित्व के इस भाग को तर्कहीन तथा अनैतिक माना जाता है। यह कामूक तथा अक्रामक दोनों असीमित शक्तियों का भंडार है।

अहम् (Ego)

व्यक्तित्व का वह भाग अहम् के नाम से जाना जाता है जो व्यक्ति के वास्तविक तथ्यों की चेतन जानकारी देता है। मनोविश्लेषण में (**फ्रायड द्वारा**) अहम् व्यक्ति का वह अंश माना गया है जिसका कार्य 'इड' की प्रकृत इच्छा–भावों और नैतिक मन (पराहम्) के कठोर नियमों के बीच मध्यस्थता करना है। यह भाग अंशिक रूप से चेतन व आंशिक रूप से अचेतन होता है। इड की भाँति यह भाग तात्कालिक एवं प्रकृत सुख नहीं चाहता, किन्तु यह वास्तविक सापेक्ष सुख पाने में इड की मदद अवश्य करता है।

पराहम् (Super Ego)

व्यक्तित्व का वह भाग पराहम् कहलाता है जो नैतिकता का प्रतिनिधित्व करता है, वास्तविकता का नहीं। नैतिक मन प्रायः बलवान शक्तियों और व्यक्तित्व का प्रमुख निर्धारक होता है। इसी के आधार पर मानव की समस्त क्रियाओं की आलोचना–प्रव्यालोचना होती है और व्यक्ति अनुचित कार्य करने से डरता हैं इसका प्रमुख व्यक्तित्व के अन्य भागों 'इड' तथा 'अहम' पर होता है। इसका विकास अहम से होता है और यह अहम् की क्रियाओं का ही प्रतिफल है।

3.11 अभ्यास हेतु प्रश्न एवं उत्तर

1. सामूहिक प्रतिनिधान की धारणा के आधार पर समाजीकरण का सिद्धांत किसने विकसित किया है?

   (क) कूले (ख) मीड (ग) मार्क्स (घ) दुर्खीम

2. 'स्वचेतन इगो' और 'सुपर इगो' के आधार पर समाजीकरण के सिद्धांत की व्याख्या का श्रेय किसको जाता है? और व्यक्ति बनने की प्रक्रिया को किसने सामाजिक कहा है?

   (क) वेबर (ख) सोरोकिन (ग) मीड (घ) फ्रायड

3. 'इड' की धारणा किसने विकसित है?

   (क) कॉम्ट (ख) फ्रायड (ग) पारसन्स (घ) मर्टन

4. 'Human Nature and the Social Order' पुस्तक के लेखक निम्नलिखित में से कौन हैं?

(क) कूले (ख) फ्रायड (ग) मीड (घ)वेबर

5. 'Mind, Self and Society' नामक कृति किसके द्वारा लिखी गई है?

(क) जॉनसन (ख) मीड (ग) फ्रायड (घ) कूले

उत्तरमाला– 1.(घ) 2.(ग) 3.(ख) 4.(क) 5.(ख)

3.12 संदर्भ ग्रंथ सूची

इमाईल दुर्खीम– सोश्योलॉजी एण्ड फिलॉसोफी (1953), रटलेज, न्यूयार्क।

एल.पीयरे और– सोश्यल साइकोलॉजी (1949), मैक्ग्रो हील बुक कम्पनी, न्यूयार्क।
एफ.वर्थ

3.13 सहायक/उपयोगी पाठ्यसामग्री

किम्बाल यंग– हैण्डबुक ऑफ सोश्यल साइकोलॉजी, रटलेज एण्ड केगन पॉल लिमिटेड, लंदन, 1957

3.14 निबंधात्मक प्रश्न

1. **कूले** और **मीड** के समाजीकरण के सिद्धांतों की विवेचना कीजिए।
2. **दुर्खीम** का समाजीकरण का सिद्धांत क्या है?
3. समाजीकरण के प्रमुख सिद्धांतों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
4. दुर्खीम और कूले के सिद्धांत का तुलनात्मक वर्णन कीजिए।
5. चार्ल्स कूले के समाजीकरण के सिद्धांत का आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिए।
6. मीड के समाजीकरण के सिद्धांत का वर्णन कीजिए तथा यह उल्लेख कीजिए कि फ्रायड के समाजीकरण के सिद्धांत से यह किस प्रकार भिन्न है।

इकाई–4

व्यक्तित्वः परिभाषा, प्रकार एवं प्रभावित करने वाले कारक व सामाजिक कारक

इकाई की रूपरेखा

4.1 उद्देश्य

4.2 प्रस्तावना

4.3 व्यक्तित्व

4.4 अवधारणा

4.5 व्यक्तित्व का अर्थ एवं परिभाषा

4.6 व्यक्तित्व के प्रकार

4.7 व्यक्तित्व को प्रभावित करने वाले कारक

4.8 व्यक्तित्व को प्रभावित करने वाले सामाजिक कारक

4.9 सारांश

4.10 शब्दावली

4.11 अभ्यास हेतु प्रश्न एवं उत्तर

4.12 संदर्भ ग्रंथ सूची

4.13 सहायक/उपयोगी पाठ्यसामग्री

4.14 निबंधात्मक प्रश्न

4.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप समझ पायेंगे कि –

- ✓ व्यक्तित्व का सही अर्थ एवं परिभाषा क्या है।
- ✓ व्यक्तित्व के कितने प्रकार हैं तथा इसे प्रभावित करने वाले कारक कौन से हैं।

- ✓ वर्तमान समय में व्यक्तित्व को प्रभावित करने वाले सामाजिक कारक समाज में क्या भूमिका अदा करते हैं।

4.2 प्रस्तावना

''मनुष्य की उत्कृष्ट विशेषता उसका व्यक्तित्व है।'' **–आलपोर्ट**

व्यक्तित्व सामाजिक मनोविज्ञान की अत्यंत महत्वपूर्ण एवं केन्द्रीय अवधारणा है। लोगों का सामाजिक व्यवहार एवं अन्तःक्रिया, जो कि सामाजिक मनोविज्ञान की प्रमुख विषय वस्तु है, उसके व्यक्तित्व पर ही निर्भर रहती है। व्यक्ति कोई जन्मजात वस्तु नहीं है वरन् यह व्यक्ति की वंशानुक्रम से प्राप्त प्राणीशास्त्रीय क्षमताओं तथा उसके सामाजिक व सांस्कृतिक पर्यावरण के बीच दीर्घकालीन अन्तःक्रियात्मक प्रक्रिया का परिणाम है।

प्राचीन काल में व्यक्तित्व ईश्वरीय देन समझा जाता था। कोई व्यक्ति प्रभावशाली है, सामान्य बुद्धि का अथवा व्यक्ति प्रभावशाली है, सामान्य बुद्धि का अथवा मूढ़ है। यह ईश्वरीय इच्छा का परिणाम समझा जाता था। इस प्रकार ईश्वर की कृपा के आधार पर व्यक्ति का व्यक्तित्व जन्म के समय से ही निश्चित हो जाता था और आजीवन अपरिवर्तित रहता था। परन्तु आधुनिक युग में व्यक्तित्व के संबंध में इस विचारधारा में विश्वास नहीं किया जाता।

4.3 व्यक्तित्व

व्यक्ति के शारीरिक, मानसिक, नैतिक और सामाजिक गुणों का वह संगठित एवं गतिशील संगठन व्यक्तित्व कहलाता है जिसकी अभिव्यक्ति अन्य व्यक्तियों के प्रति रोज़मर्रा के सामाजिक जीवन के आदान–प्रदान के दौरान होती है। व्यक्तित्व की रचना जैविकीय रूप में हस्तांतरित मनो–दैहिक कार्य प्रणाली तथा सामाजिक रूप में संचारित सांस्कृतिक प्रतिमानों के आधार पर होती है। हमारे विचारों, मनोभावों तथा आचरण संबंधी कार्यकलापों का मिला–जुला जो प्रभाव दूसरों पर पड़ता है, उसी से व्यक्तित्व का ढाँचा तैयार होता है। व्यक्तित्व का सामान्य प्रचलित अर्थ व्यक्ति के मात्र शारीरिक गठन यथा रूप–रंग, नाक–नक्श और चाल–ढाल को ही महत्व देता है। किन्तु यह व्यक्तित्व का एक ही पक्ष (बाहय) ही है। इसमें आन्तरिक पक्ष के गुण, विचार, मूल्य, आचरण, विश्वास आदि सम्मिलित नहीं होते।

4.4 अवधारणा

'व्यक्तित्व' शब्द का उद्‌गम लैटिन भाषा के **'पर्सनेअर'** शब्द से माना गया है, जिसका तात्पर्य ध्वनि करने के सदृश्य से है। 'व्यक्तित्व' शब्द एक पात्र की आवाज को भी व्यक्त करता है जो **वेश बदले हुए** होता है। ईसा के एक सदी पूर्व '**पर्सोना**' शब्द व्यक्ति के कार्यों को स्पष्ट करने के लिए प्रयुक्त किया जाता था। अधिकतर नाटकों आदि में इस शब्द की महत्ता थी। किन्तु वर्तमान काल में प्रायः 'व्यक्तित्व' शब्द से हमारा तात्पर्य ऐसे गुणों के संगठन से है जिसमें बहुत से मानवीय गुण अन्तर्निहित और संगठित होते हैं। किन्तु व्यक्तित्व का यह विचार मानवीय गुणों के बारे में हमें कोई निश्चित माप नहीं देता।

कुछ व्यक्ति अपना मत इस प्रकार प्रकट करते हैं कि व्यक्तित्व में वे सभी बातें आती हैं जिनको लेकर एक व्यक्ति पैदा होता है। जिनको वातावरण प्रभावित नहीं कर पाता और जो व्यक्ति के प्रत्येक क्रिया में झलकती हैं। कुछ अन्य व्यक्ति व्यक्तित्व की परिभाषा इस प्रकार देते हैं कि व्यक्तित्व ही व्यक्ति है। किन्तु व्यक्ति और व्यक्तित्व दो अलग–अलग शब्द है जिसका एक–दूसरे से संबंध रहते हुए भी बहुत विभेद है। यही नहीं कुछ व्यक्ति व्यक्तित्व के बारे में स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि व्यक्तित्व मानवीय व्यवहार के प्रतिमान हैं जो किसी परिस्थिति–विशेष के प्रत्युत्तर में किये जाते हैं और इनका उस परिस्थिति विशेष से अलग कोई अस्तित्व नहीं होता है। इस प्रकार विभिन्न मतों का मूल्यांकन करते हुए इस निष्कर्ष पर आते हैं कि व्यक्तित्व संबंधी सामान्य विचार बहुत ही व्यापक है और विभिन्न व्यक्ति मतानुसार स्पष्ट करते हैं।

4.5 व्यक्तित्व का अर्थ एवं परिभाषा

व्यक्तित्व शब्द अंग्रेज़ी भाषा के पर्सनालिटी शब्द का हिन्दी रूपान्तर है जो स्वयं लैटिन भाषा के **पर्सोना** शब्द से निकला है जिसका अर्थ है **नकाब** अथवा कृत्रिम चेहरा। पर्सोना शब्द भी ग्रीक भाषा के प्रसोपोन शब्द से बना है जिसका अर्थ है आकृति अथवा चेहरे का भाव। इस प्रकार शाब्दिक अर्थों में व्यक्तित्व का अर्थ है किसी व्यक्ति का बाहय रूप अर्थात जैसा वह बाहर से दिखता है। परन्तु मनोविज्ञान में व्यक्तित्व का अर्थ अधिक व्यापक है। विभिन्न विद्वानों ने इसे अनेक अर्थों में प्रयुक्त तथा परिभाषित किया है। **ऑलपोर्ट** ने 50 तरीकों की एक सूची तैयार की है जिन आधारों पर व्यक्तित्व शब्द का प्रयोग किया जाता है।

ऑलपोर्ट ने व्यक्तित्व की परिभाषा करते हुए लिखा है कि ''व्यक्तित्व व्यक्ति की उन मनो–दैहिक पद्धतियों का गतिशील संगठन है जो वातावरण के साथ उसका अद्वितीय समायोजन स्थापित करता है।'' **ऑलपोर्ट** ने इस परिभाषा में व्यक्तित्व की मनो–दैहिक विशेषताओं के साथ–साथ सामाजिक अनुकूलन की विशेषता को भी महत्व प्रदान किया है। उन्होंने व्यक्तित्व को मनोवैज्ञानिक एवं शारीरिक गुणों का एक संगठन माना है। यह संगठन गतिशील होता है जो समय एवं परिस्थिति के साथ–साथ परिवर्तित होता रहता है। मनो–शारीरिक विशेषताओं का यह संगठन व्यक्ति को उसके वातावरण के साथ समायोजन स्थापित करने में सहायक होता है।

प्रिन्स के शब्दों में ''व्यक्तित्व व्यक्ति की समस्त जैविकीय आन्तरिक व्यवस्थाओं, प्रेरणाओं, प्रवृत्तियों, अभिरूचियों और मूलप्रवृत्तियों तथा अपने अनुभव द्वारा अर्जित प्रेरणाओं एवं प्रवृत्तियों का सम्पूर्ण योग है।'' **प्रिन्स** ने व्यक्तित्व को जैविकीय तथा अनुभव के आधार पर अर्जित मनोवैज्ञानिक एवं जैविकीय गुणों का संगठन माना है। मन्न के अनुसार, ''व्यक्तित्व को एक व्यक्ति की बनावट, व्यवहार के ढंग, रूचियों, अभिवृत्तियों, क्षमताओं, योग्यताओं तथा प्रवीणता के अत्याधिक विशिष्ट संगठन के रूप में परिभाषित किया जा सकता है।''

मन्न ने व्यक्तित्व को व्यक्ति के विभिन्न शारीरिक, मानसिक एवं व्यवहार सम्बन्धी गुणों का एक संगठन बताया है। उनके अनुसार विभिन्न विशेषताओं का यह संगठन विशिष्टता लिए हुए होता है जो एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति से पृथक करता है। **ड्रेवर** ने व्यक्तित्व को परिभाषित करते हुए लिखा है कि ''व्यक्तित्व व्यक्ति के शारीरिक, मानसिक और सामाजिक गुणों का वह समन्वित और गतिशील संगठन है जो व्यक्ति अन्य व्यक्तियों के साथ सामाजिक जीवन के आदान–प्रदान में प्रदर्शित करता है।'' ड्रेवर ने व्यक्तित्व के अन्तर्गत सामाजिक–मानसिक तथा सामाजिक–सांस्कृतिक सभी गुणों का संगठन माना है। इसी संगठन के आधार पर व्यक्ति समाज के अन्य व्यक्तियों के साथ सामाजिक अन्तःक्रियाएँ एवं सम्बन्ध स्थापित करता है।

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि ''व्यक्तित्व व्यक्ति के सम्पूर्ण जैविकीय तथा अर्जित शारीरिक, मानसिक व सामाजिक–सांस्कृतिक गुणों का एक गतिशील संगठन है। जिसके आधार पर व्यक्ति अपने वातावरण के साथ सामंजस्य स्थापित करता है तथा जिसका प्रदर्शन व्यक्ति अपने सामाजिक जीवन के आदान–प्रदान में करता है।''

4.6 व्यक्तित्व के प्रकार

विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न आधारों पर व्यक्तित्व के अनेकानेक प्रकार बताए हैं। **अरस्तु** ने नाक की बनावट के आधार पर, **हैवलॉक ऐलिस** ने बालों के आधार पर, गाल ने मस्तिक की स्थिति के आधार पर, **कैनन** ने ग्रन्थि व्यवस्था के आधार पर, **क्रेश्चमर और शैल्डन** ने शारीरिक रचना के आधार पर, **हिप्पोक्रेटस बुहलर** आदि विद्वानों ने स्वभाव के आधार पर, **जेम्स, युग** आदि ने मनौवैज्ञानिक आधार पर **थॉमस एवं जैनिकी, स्प्रेन्गर, मुरे, लासवैल** आदि विद्धानों ने समाजशास्त्रीय आधार पर व्यक्तित्व के विभिन्न प्रकार बताये हैं। व्यक्तित्व के इन विभिन्न प्रकारों को शारीरिक, मनोवैज्ञानिक और सामाजिक निम्न तीन वर्गों में रखकर प्रस्तुत किया जा सकता है–

(क) शारीरिक प्रकार–व्यक्ति के व्यक्तित्व में पाये जाने वाले विभिन्न शारीरिक गुणों के आधार पर अनेक विद्धानों ने व्यक्तित्व के निम्नलिखित वर्गीकरण प्रस्तुत किए हैं–

1- क्रेश्चमर ने व्यक्तित्व के निम्न प्रकार बताये हैं–

(I) ऐसथेनिक–लम्बे–पतले, नाजुक स्वभाव वाले, एकान्तप्रिय, भावुक तथा आलोचक प्रकृति के।
(II) ऐथलेटिक–सुविकसित, सुडौल शरीर वाले तथा दूसरों से कम सम्पर्क रखने वाले।
(III) पिकनिक–छोटे कद के, भारी–भरकम शरीर वाले तथा अधिक मिलनसार।
(IV) डिस्प्लैस्टिक–इसके अन्तर्गत वे आते है जो उपर्युक्त तीनों वर्गों के अन्तर्गत नहीं आते हैं।

2- शैल्डन ने व्यक्तित्व के निम्न तीन प्रकार बताये हैं–

(I) स्थूलकाय– मोटे, गोल–मटोल, खाने के शौकीन, चिन्तित तथा आलसी।
(II) गठित–काय– हष्टपुष्ट, साहसी तथा प्रतिस्पर्द्धा की तीव्र भावना वाले।
(III) कृश–काय– दुबले–पतले, लम्बे शरीर वाले, असामाजिक एवं सशक्ति प्रकृति के।

(ख) मनोवैज्ञानिक प्रकार–व्यक्ति के व्यक्तित्व में पाये जाने वाले मनोवैज्ञानिक गुणों के आधार पर विभिन्न विद्धानों ने व्यक्तित्व के निम्नलिखित वर्गीकरण प्रस्तुत किए हैं–

1- हिप्पोक्रेटस ने व्यक्तित्व के चार प्रकार बताये हैं–

(i) वायुतत्व–उत्साही, आशावादी, मिलनसार एवं प्रसन्नचित।
(ii) जलतत्व–निर्बल, निष्क्रिय एवं आलसी।
(iii) पृथ्वीतत्व–उदासीन, निराश, मौन एवं चिन्तनशील।
(iv) अग्नितत्व–क्रोधी एवं उग्र स्वभाव वाले।

2- जेम्स ने व्यक्तित्व के निम्न दो प्रकार बताये हैं–

(i) नर्म स्वभाव वाले–आदर्शवादी, धार्मिक एवं रूढ़िवादी।

(ii) सख्त प्रकृति वाले–व्यवहारवादी एवं भौतिक दृष्टिकोण।

3- युंग ने व्यक्तित्व के तीन प्रकार बताये हैं–

(i) अर्न्तमुखी–आत्मकेन्द्रित, एकान्तप्रिय, विचार–प्रधान तथा दर्शन एवं विज्ञान में रूचि रखने वाले।

(ii) बहिर्मुखी–बाहय संसार में रूचि, क्रिया–प्रधान, आत्म प्रदर्शनप्रिय एवं महत्वाकांक्षा युक्त।

(iii) उभयमुखी–उपर्युक्त दोनों प्रकार के व्यक्तित्व का समन्वय ।

4- केन्टल ने दो प्रकार के व्यक्तित्व बताये हैं–

(i) बेगवान–प्रसन्नमुख एवं बहिर्मुखी प्रकृति के।

(ii) बेगहीन–अन्तर्मुखी प्रकृति के।

5- स्टीफेन्सन ने व्यक्तित्व के दो प्रकार बताये हैं–

I. प्रसारक–अन्तर्मुखी प्रकृति के।

II. अप्रसारक–बहिर्मुखी प्रकृति के।

6- पैवलॉव ने व्यक्तित्व के तीन प्रकार बताये हैं–

I. क्रोधी–उग्र एवं क्रोधी प्रकृति के।

II. केन्द्रीय–उत्साही प्रकृति के।

III. उदासीन–हतोत्साही एवं निराशा।

7- थार्नडाइक ने व्यक्तित्व के निम्न तीन प्रकार बताये हैं–

I. सूक्ष्म विचारक–कार्य करने से पहले अच्छाई–बुराई पर भली–भॉति विचार करने वाले, दर्शन, विज्ञान, तर्क गणित, मनोविज्ञान में रूचि।

II. प्रत्यय विचारक–शब्द, संख्या, संकेत आदि के आधार पर चिन्तन

III. स्थूल विचारक–क्रियाशील प्रकृति के।

8- टरमन ने बुद्धि लब्धि के आधार पर व्यक्तित्व के निम्न प्रकार बताये हैं–

I. अति प्रतिभाशाली

II. प्रतिभाशाली

III. अत्युत्कृष्ट

IV. उत्कृष्ट

V. सामान्य

VI. मन्दबुद्धि

VII. निर्बल बुद्धि

VIII. हीन बुद्धि

IX. मूर्ख

X. मूढ़

XI. जड़

9- भारतीय आयुर्वेदशास्त्र के आधार पर व्यक्तित्व तीन प्रकार के होते हैं–

I. बात प्रधान–वे वयक्ति जिनमें 'बात' की प्रधानता होती है।

II. पित्त प्रधान–वे व्यक्ति जिनमें 'पित्त की प्रधानता होती है।

III. कफ प्रधान–वे व्यक्ति जिनमें 'कफ की प्रधानता होती है।

10- कपिलमुनि ने 'सांख्यशास्त्र' में निम्न तीन प्रकार के व्यक्तित्व बताये हैं। 'गीता' में भी व्यक्तित्व के इन्हीं तीन प्रकारों का वर्णन किया गया है–

I. सतोगुणी–सौम्य, शान्त, सुख–दुख में समान।
II. रजोगुणी–चंचल, उत्तेजित प्रकृति के।
III. तमोगुणी–आलसी प्रकृति के।

(ग) समाजिक प्रकार– व्यक्ति के सामाजिक गुणों के आधार पर विभिन्न विद्वानों ने व्यक्तित्व के निम्नलिखित वर्गीकरण किये हैं–

1- बुहलर ने व्यक्तित्व के निम्न तीन प्रकार बताये हैं–

I. सामाजिक अन्ध–स्वयं में मस्त।
II. समाज निर्भर–मिलनसार।
III. समाज उदासीन–दूसरों से मिलकर न आनन्द, न सुख।

2- स्प्रेंगर ने व्यक्तित्व के छः प्रकार बताये हैं–

I. सिद्धान्तवादी–सत्य एवं ज्ञान की खोज में रूचि रखने वाला।
II. आर्थिक–प्रत्येक वस्तु एवं परिस्थिति पर व्यावहारिक उपयोगिता की दृष्टि से विचार करने वाला।
III. राजनैतिक–शक्ति एवं सत्ता की तीव्र इच्छा रखने वाला।
IV. धार्मिक–आध्यात्मिकता एवं ईश्वर में विश्वास रखने वाला।
V. सामाजिक–मानवतावादी, दया एवं सहानुभूति रखने वाला।
VI. रागात्मक–सौन्दर्य–प्रेमी, प्रत्येक वस्तु को कलात्मक दृष्टि से देखने वाला।

3- थॉमस एवं ज़ैनिकी ने व्यक्तित्व के निम्न तीन प्रकार बताये हैं–

I. व्यावहारिक–आत्म–सुरक्षा को महत्व देने वाला।
II. बोहेमियन–वर्तमान परिस्थिति के अनुसार कार्य करने वाला।
III. रचनात्मक–जो कुछ नवीन रचना करना चाहता है।

4- मूरे ने व्यक्तित्व के चार प्रकार बताये हैं–

I. सिद्धान्तवादी–सिद्धान्तों में रूचि रखने वाला।
II. मानवतावादी–मानवता की भावना से ओत–प्रोत।
III. संवेदनशील–सौन्दर्य प्रिय, कलाकार, प्रेमी आदि।
IV. व्यवहारिक–किसान, सैनिक, श्रमिक आदि।

5- भारतीय वर्ण व्यवस्था के आधार पर व्यक्तित्व निम्न चार प्रकार के होते हैं–

I. ब्राहमण–अध्ययन–अध्यापन, तप, त्याग, परोपकार में रूचि रखने वाले।
II. क्षत्रिय–वीरता, साहस, युद्ध एवं रक्षा की भावना वाले।
III. वैश्य–कृषि, व्यापार एवं धन–संग्रह में रूचि रखने वाले।
IV. शूद्र–दासवृत्ति एवं सेवा भाव वाले।

व्यक्तित्व की विभिन्न परिभाषाओं तथा विभिन्न आधारों पर अनेक सिद्धानों द्वारा प्रस्तुत व्यक्तित्व के उपर्युक्त विविध प्रकारों के प्रकाश में यह कहा जा सकता है कि व्यक्तित्व एक विस्तृत एवं विभिन्न अर्थों वाली अवधारणा है।

4.7 व्यक्तित्व को प्रभावित करने वाले कारक

''मानव का व्यक्तित्व जन्म से ही पूर्ण नहीं होता। जन्म के समय उसके पास न भाषा होती है, न समझ, उसके न कोई विचार होते हैं, न विश्वास, वह न नियम जानता है, न संस्कृति, लेकिन सामाजिक सीख की लम्बी प्रक्रिया और अनुभवों के द्वारा उसमें व्यक्तित्व सम्बन्धी बहुत से सामाजिक गुणों का समावेश हो जाता है।'' **क्यूबर** का यह कथन बिल्कुल सत्य है कि जन्म के समय मनुष्य तथा पशु के बच्चों में प्राणिशास्त्रीय आधार पर अन्तर अवश्य होता है, लेकिन उसका व्यवहार तथा स्वभाव पशुओं की भाँति ही होता हैं। सामाजिक सीख एवं समाजीकरण की लम्बी प्रक्रिया मानव–शिशु को पशुता से मानवता की ओर लाती है एवं उसके व्यक्तित्व का विकास करती हैं। इस प्रकार व्यक्ति का व्यक्तित्व प्रारम्भ से ही पूर्ण नहीं होता अपितु सामाजिक सीख एवं समाजीकरण की दीर्घ प्रक्रिया, जो व्यक्ति के वातावरण अर्थात समाज और संस्कृति पर निर्भर करती है, के दौरान व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास होता है।

लेकिन इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता है कि व्यक्तित्व का विकास पूर्णतया वातावरण पर ही निर्भर है, क्योंकि इस तथ्य से इंकार नहीं किया जा सकता कि ''वही अग्नि जो मक्खन को पिघलाती है, अंडे को सख्त कर देती है अर्थात एक ही पर्यावरण में रहकर एक बच्चा संत बन जाता है तो दूसरा अपराधी।'' अतः व्यक्तित्व के विकास के लिए न केवल पर्यावरण अर्थात् समाज और संस्कृति ही आवश्यक हैं वरन् उसका जैविकीय ढाँचा भी कम महत्वपूर्ण नहीं है।

वास्तव में यह प्रश्न बड़ा विवादास्पद है कि व्यक्तित्व के विकास में आनुवंशिकता अधिक महत्वपूर्ण है अथवा परिवेश। **वुडवर्थ** ने इस समस्या को बड़े सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया है कि ''क्या माली धरती को उपजाऊ बनाने की ओर अधिक ध्यान दें अथवा उत्तम चीज़ों की ओर।'' व्यक्तित्व के विकास से सम्बन्धित इस विवाद में एक ओर **क्रेश्चमर, शैल्डन** आदि विद्वान हैं जो व्यक्तित्व के विकास के लिए जैविकीय ढाँचे को ही महत्वपूर्ण मानते हैं जबकि दूसरी ओर **वॉटसन** आदि व्यवहारवादी विद्धान हैं जो जैविकीय ढाँचे को बिल्कुल महत्व न देकर व्यक्तित्व के विकास में पर्यावरण को ही सब–कुछ मानते हैं।

वास्तविकता यह कि मानव व्यक्तित्व न तो पूर्णतया आनुवंशिकता पर निर्भर रहता है और न ही परिवेश पर अपितु व्यक्तित्व के विकास में आनुवंशिकता और परिवेश दोनों ही महत्वपूर्ण हैं। **मर्फी** के अनुसार व्यक्तित्व न तो जैविकीय है और न सामाजिक वरन् जीव–सामाजिक है। वह दोनों कारक एक–दूसरे के पूरक हैं। अतः इनमें से किसी को भी छोड़ा नहीं जा सकता। **मैकाइवर एवं पेज** ने उचित ही लिखा है कि ''जीवन की प्रत्येक घटना दोनों का फल है। किसी परिणाम के लिए जितना एक आवश्यक है उतना ही दूसरा। न तो किसी को हटाया जा सकता है और न ही सर्वथा अलग किया जा सकता है।'' **चार्ल्स फॉक्स** ने भी लिखा है कि ''सावयव और पर्यावरण दोनों मिलकर एक इकाई बनाते हैं जिन्हें केवल कल्पना–लोक से ही अलग किया जा सकता है, वास्तविकता में नहीं'' दोनों के पारस्परिक सहयोग के सम्बन्ध में **लेन्डिस एवं लेन्डिस** ने भी लिखा है कि ''आनुवंशिकता हमें विकसित होने की क्षमताएँ प्रदान करती है परन्तु इन क्षमताओं के विकास का अवसर परिवेश से ही मिलता है। आनुवंशिकता से हमें क्रियाशील पूँजी प्राप्त होती है और परिवेश उसे व्यय करने का अवसर

देता है।'' इस प्रकार व्यक्तित्व के विकास में व्यक्ति का जैविकीय ढाँचा तथा परिवेश दोनों ही आवश्यक हैं। **मन्न तथा बोरिंग** का भी कथन है कि जब प्राणिशास्त्रीय लक्षण व्यक्ति के सामाजिक–सांस्कृतिक परिवेश के साथ अनतः क्रिया करते हैं तभी व्यक्तित्व का विकास होता है।

4.8 व्यक्तित्व को प्रभावित करने वाले सामाजिक कारक

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है वह समाज में ही जन्म लेता है, समाज में ही उसका पालन–पोषण होता है और समाज में रहकर ही वह बड़ा होता है। उसके तथा उसके समाज के बीच परस्पर आदान–प्रदान की प्रक्रिया के द्वारा उसका समाजीकरण होता है अर्थात व्यक्ति के व्यक्तित्व का रूप उसके सामाजिक सम्बन्धों पर निर्भर करता हैं। **मैकाइवर एवं पेज** ने कहा है कि ''प्रत्येक व्यक्ति सामाजिक सम्बन्धों की उपज है।

''वास्तव में व्यक्ति और समाज का सम्बन्ध बहुत घनिष्ठ है, वे एक–दूसरे के पूरक कहे जा सकते हैं। मैकाइवर एवं पेज के शब्दों में,''बिना समाज एवं सामाजिक विरासत की सहायता के व्यक्ति के व्यक्तित्व का

विकास एवं अस्तित्व सम्भव नहीं है। इस प्रकार परिवार, पड़ोस, स्कूल, समाज की आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक संस्थाएँ आदि अनेक सामाजिक कारक व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास को प्रभावित करते हैं। व्यक्तित्व के विकास को प्रभावित करने वाले महत्वपूर्ण सामाजिक कारक निम्नलिखित हैं–

(1) **परिवार**–परिवार मानव जीवन की सबसे अधिक महत्वपूर्ण एवं आधारभूत संस्था है। अतः व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास में परिवार की भूमिका अद्वितीय है। यह व्यक्ति के सम्पूर्ण सामाजिक जीवन का केन्द्र है। परिवार में रहकर ही व्यक्ति में प्रेम, सेवा, सहयोग, सहानुभूति, आज्ञापालन आदि गुणों का विकास होता है तथा यही मनुष्य समाजीकरण सन्तानोत्पत्ति, यौन, आर्थिक उत्पादन, शिक्षा धर्म, मनोरंजन आदि आवश्यकताओं को पूरा करता है। इस प्रकार परिवार मानव जीवन की मूलभूत जैविकीय, सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक इच्छाओं एवं आवश्यकताओं को पूरा करने वाली सामाजिक इकाई है। जन्म से लेकर मृत्यु तक परिवार व्यक्ति के व्यवहार को जितना अधिक संगठित, नियमित एवं नियंत्रित करता है उतना शायद समाज का कोई संगठन नहीं करता। व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास करने के लिए जिन व्यवहारों, आचरणों, मूल्यों एवं आदर्शों का पालन करना आवश्यक है उन सबकी समुचित शिक्षा परिवार में ही मिलती है। **डेविस** ने लिखा है कि ''बालक के संदर्भ में चूँकि परिवार प्रथम, सर्वाधिक प्रभावी, सर्वाधिक निकट एवं एक सम्पूर्ण ऐजेन्सी है। अतः परिवार व्यक्तित्व के निर्माण में अत्यधिक महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।'' परिवार बच्चे की प्रथम पाठशाला है और माता–पिता बच्चे की दो प्राथमिक पुस्तकें हैं। बच्चा सुझाव तथा अनुकरण की प्रक्रियाओं द्वारा इन्हीं दो पुस्तकों के अनुसार अपने व्यक्तित्व का निर्माण करता है। **फ्रायड तथा एडलर** ने कहा है कि बच्चा परिवार में जो कुछ बन जाता है वह बड़ा होकर समाज में वैसा ही व्यवहार करता है। उन्होंने परिवार को व्यक्तित्व के विकास का मूल आधार माना है। **साइमण्डस** के अनुसार, यदि एक व्यक्ति के माता–पिता स्वस्थ, धीर, साहसी तथा स्नेही हैं तो उस व्यक्ति के साथ एक अच्छा नागरिक होने के अवसर रहते हैं।''

इसके विपरीत, यदि परिवार में माता–पिता एवं अन्य सदस्यों के पारस्परिक सम्बन्ध अस्वस्थ एवं तनावपूर्ण होंगे तो बच्चे का व्यक्तित्व भी इसी प्रकार का बन जायेगा। इस प्रकार परिवार ही बच्चे को महान बनाता है और परिवार ही उसे अपराधी बनाता है। **हीली एवं ब्रोनर** ने 4000 बाल अपराधियों का अध्ययन करके देखा तो पाया कि उनमें से 50 प्रतिशत टूटे परिवारों से सम्बद्ध थे। **सदरलैण्ड** ने 30 प्रतिशत से 60 प्रतिशत बाल–अपराधियों

को नष्ट घरों का सदस्य पाया। **जॉनसन** ने अपराधी बच्चों में से 52 प्रतिशत बच्चों को बर्वाद परिवारों का पाया। **बर्ट, सालसन** तथा **मैरिल** के अनुसार भी भग्न परिवारों से बाल–अपराधियों की संख्या अधिक होती है। स्पष्ट है कि परिवार का अस्वस्थ वातावरण बच्चे के व्यक्तित्व को भी अस्वस्थ बना देता है। इस प्रकार व्यक्तित्व के विकास में परिवार की महत्वपूर्ण भूमिका के सम्बन्ध में **सैमुअल** के शब्दों को दोहराया जा सकता है कि ''मुख्यतः घर में ही दिल खुलता है, आदतों का निर्माण होता है, बुद्धि जागृत होती है तथा अच्छे–बुरे चरित्र ढलते हैं।''

(2) स्कूल–परिवार के पश्चात् व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास में दूसरा स्थान स्कूल का है। स्कूल में बच्चे की बुद्धि तथा ज्ञान को विकसित किया जाता है जो उसके व्यक्तित्व को उचित दिशा में मोड़ते हैं। इसके साथ ही स्कूल में बच्चे को नियमित, नियन्त्रित एवं अनुशासित व्यवहार करने की शिक्षा मिलती है, जिसके द्वारा उसके व्यवहार को समायोजित दिशा प्रदान होती है। स्कूल में अन्य सहपाठियों के साथ मिल–जुलकर रहने एवं कार्य करने की शिक्षा मिलती हैं जिससे बच्चे में पारस्परिक सहयोग एवं सहानुभूति की भावना का विकास होता है। खेल एवं अन्य सांस्कृतिक कार्यों के द्वारा उसमें कर्तव्यपालन एवं उत्तरदायित्व निर्वाह करने की शिक्षा मिलती है। स्कूल में शिक्षक बच्चों के समक्ष आदर्श व्यवहार एवं विचार प्रस्तुत करते हैं। बच्चा इन्हीं व्यवहारों एवं विचारों का अनुसरण करता है, इससे उसका व्यवहार भी आदर्श व्यवहार की ओर उन्मुख हो जाता है। इस प्रकार योग्य एवं आदर्श शिक्षक बच्चे के व्यक्तित्व के स्वस्थ विकास में सहायक होते हैं। लेकिन अयोग्य एवं दोषपूर्ण शिक्षक बच्चे के विनाश का कारण भी बन जाते हैं। इसके अतिरिक्त स्कूल में बच्चा अनेक गुण अपनी पुस्तकों से भी ग्रहण करता हैं **रॉबर्ट बीरस्टीड** ने लिखा है कि ''यह स्कूल में ही होता है कि संस्कृति का सही तरीके से प्रेषण और उपार्जन होता है। जिससे एक पीढ़ी का साहित्य, ज्ञान–विज्ञान और कला दूसरी पीढ़ी तक चलता रहता है। इस प्रकार व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास में स्कूल की भूमिका भी बहुत महत्वपूर्ण है।

(3) धर्म–व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास में धर्म की भूमिका भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। बच्चा किस आयु में क्या सीखेगा, उसका पालन–पोषण एवं शिक्षा–दीक्षा किस प्रकार होगी। जन्म से मृत्यु तक किन–किन संस्कारों को अपनाएगा, समाज में उसकी स्थिति एवं उत्तरदायित्वों की व्यवस्था तथा उचित–अनुचित आदि का निर्धारण धर्म के द्वारा ही होता है। मनुष्य अपने जीवन में कुछ सामान्य उद्देश्यों तथा मोक्ष, निर्वाण आदि को प्राप्त करना चाहता है, जो उसके व्यक्तित्व को संगठित करते हैं। इन अनन्त उद्देश्यों का निर्धारण धर्म के द्वारा ही होता है। धर्म मनुष्य में सदाचार, परोपकार, सेवाभाव, सत्याचरण, सहिष्णुता, समाज कल्याण आदि सद्गुणों का विकास करता है। **थामस ओ'डिया** के शब्दों में, "धर्म समूह में व्यक्ति का तादात्म्य स्थापित करता है, अनिश्चितता की स्थिति में उसकी सहायता करता है, निराशा में उसे ढाढ़स बँधाता है, समाज के लक्ष्यों से उसे सम्बन्धित करता है और उसके अन्दर तादात्म्य के तत्वों को पैदा करता है।'' धर्म मानव जीवन के उद्देश्यों को निश्चित करने, उन्हें प्राप्त करने के साधन निश्चित करने तथा जीवन की गतिविधियों को निर्देशित करने के लिए, सामाजिक मूल्यों का निर्माण करता है। यह मूल्य व्यक्ति की गतिविधियों को निर्देशित करने के लिए सामाजिक मूल्यों का निर्माण करता है। यह मूल्य व्यक्ति के व्यक्तित्व के अंग बन जाते हैं। इस प्रकार कहा जा सकता है कि धर्म व्यक्तित्व के संगठन एवं विकास में बहुविध भूमिका अदा करता है।

(4) आर्थिक स्थिति–व्यक्तित्व के विकास में व्यक्ति के परिवार की आर्थिक स्थिति का प्रभाव भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। परिवार की सम्पत्ति, आय, जीवन–स्तर आदि आर्थिक स्थितियों का बच्चों की रूचियों, मनोवृत्तियों, आदतों अर्थात उसके व्यक्तित्व पर प्रभाव पड़ता है। धनी परिवारों में बच्चों की रूचियों, मनोवृत्तियों, आदतों अर्थात् उसके व्यक्तित्व पर प्रभाव पड़ता है। धनी परिवारों में बच्चों की मूलभूत एवं अन्य आवश्यकताओं की

सरलता से पूर्ति होती रहती है। वे किसी प्रकार की चिन्ता, अभाव, असुरक्षा एवं हीनभावना का अनुभव नहीं करते। अतः उनके व्यक्तित्व के स्वाभाविक एवं संतुलित विकास होने के अवसर अधिक रहते हैं। इसके विपरीत निर्धन परिवारों में कभी–कभी जब बच्चों की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति भी सरलता से नहीं हो पाती और वे चिन्ता, अभाव, असुरक्षा एवं दीनता की भावना से पीड़ित रहते हैं तो उनके व्यक्तित्व का स्वाभाविक एवं संतुलित विकास नहीं हो पाता। इसके अतिरिक्त प्रत्येक समाज में आर्थिक स्थिति के आधार पर धनी तथा निर्धन वर्ग की अपनी–अपनी अलग–अलग संस्कृति होती है और चूँकि व्यक्ति अपने व्यक्तित्व में अपनी संस्कृति के गुणों को ही ग्रहण करता है। अतः दोनो वर्गों के बच्चों के व्यक्तित्व में अन्तर देखने को मिलता हैं समाज की सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के आधार पर भी व्यक्ति के व्यक्तित्व में अन्तर दिखाई देता है। उदाहरण के लिए कृषि प्रधान अर्थव्यवस्था में लोग धर्म, प्रथा, परम्परा, सहयोग, त्याग, सेवा–भाव, रूढ़िवादिता एवं भाग्यवादिता को महत्व देते हैं जबकि उद्योग प्रधान अर्थव्यवस्था में विज्ञान, व्यक्तिवाद, भौतिकवाद, प्रतिस्पर्द्धा आदि गुण व्यक्ति के व्यक्तित्व में पाये जाते हैं। इस प्रकार व्यक्ति के व्यक्तित्व की रचना में आर्थिक स्थिति की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

(5) सामाजिक संस्थाएँ– व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास में समाजिक संस्थाओं का स्थान भी बहुत महत्वपूर्ण है। सामाजिक संस्थाएँ व्यक्ति के व्यक्तित्व के गुणों को नियमित एवं नियन्त्रित करती हैं। उदाहरण के लिए हमारे देश की जाति–व्यवस्था जन्म से लेकर मृत्यु तक व्यक्ति के सम्पूर्ण विचारों, मनोवृत्तियों, आदतों, व्यवहारों तथा पारिवारिक, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक स्थिति एवं सामाजिक संबंधों का निर्धारण करती थी। जिसका व्यक्ति को अनिवार्य रूप से पालन करना पड़ता था। अतः जातीय नियमों में भिन्नता होने के कारण प्रत्येक जाति के व्यक्ति के व्यक्तित्व में अलग–अलग गुण पाये जाते थे। जातीय आधार पर ब्राह्मण बच्चों में जन्मजात गौरव एवं श्रेष्ठता तथा शुद्र बच्चों में जन्मजात अधमता एवं हीनता प्रारम्भ से ही पाई जाती है। इसी प्रकार जब हमारे देश में संयुक्त परिवार व्यवस्था थी तब लोगों में सहयेग, त्याग, परोपकार, आदर्शवादिता, धार्मिकता, रूढ़िवादिता आदि गुण पाये जाते थे। लेकिन आज के व्यक्तिवादी परिवार व्यक्ति में व्यक्तिवाद, प्रतिस्पर्द्धा एवं भौतिकवादी विचारों को विकसित कर रहे हैं। इस प्रकार व्यक्तित्व के विकास में सामाजिक संस्थाएँ महत्वपूर्ण भूमिका निर्वाह करती हैं।

(6) प्रस्थिति और भूमिका– प्रस्थिति और भूमिका की धारणाओं को स्पष्ट करते हुए **लिन्टन** ने लिखा है कि ''किसी व्यवस्था के अन्तर्गत किसी समय विशेष में व्यक्ति को जो स्थान अथवा गौरव प्राप्त होता है वही उस व्यवस्था के संदर्भ में उस व्यक्ति की प्रस्थिति है। अपनी इस प्रस्थिति का औचित्य सिद्ध करने के लिए व्यक्ति को जो कुछ करना पड़ता है वह उसकी भूमिका है।'' व्यक्ति की इस प्रस्थिति तथा इससे सम्बन्धित भूमिका का उसके व्यक्तित्व के विकास में महत्वपूर्ण स्थान होता है। प्रत्येक समाज में प्रत्येक प्रस्थिति एवं भूमिका से सम्बन्धित एक विशेष परिस्थिति है तथा कुछ मान्यताएँ, प्रवृत्तियों, आदतें एवं मूल्य होते हैं। किसी विशेष प्रस्थिति के अनुसार ही व्यवहार करना पड़ता है। अतः विभिन्न प्रस्थिति वाले व्यक्तियों के व्यक्तित्व में भिन्न–भिन्न विशेषताएँ एवं गुण पाये जाते हैं।

प्रस्थिति तथा भूमिका का निर्धारण करने वाले तत्वों में आयु, लिंग, नातेदारी तथा अर्थिक स्थिति प्रमुख हैं। आयु के आधार पर प्रत्येक समाज में विभिन्न आयु के व्यक्यिों से अलग–अलग प्रकार के व्यवहारों की आशा की जाती है। **मीड** ने न्यूगिनी की संस्कृति का उल्लेख करते हुए कहा है कि यहाँ बच्चों को प्रारम्भिक अवस्था से ही शारीरिक श्रम और आत्मनिर्भरता की शिक्ष दी जाती थी। अतः वे जैसे–जैसे प्रौढ़ावस्था की ओर बढ़ते हैं स्वयं को शारीरिक दृष्टि से आकर्षक एवं प्रशंसनीय बनाने का प्रयास करते हैं। **किड** ने अमेरिका की संस्कृति का

उदाहरण देते हुए कहा है कि वहाँ बच्चों में प्रारम्भ से ही नम्रता, विनय तथा समाज–सेवा की भावना पैदा की जाती है। इसी प्रकार हमारे प्राचीन भारतीय समाज में वृद्धावस्था सम्मान एवं प्रतिष्ठा की सूचक थी जबकि एस्कीमो लोगों में वृद्धावस्था आर्थिक असुरक्षा अर्थात अभिशाप की स्थिति है। स्पष्ट है कि आयु के आधार पर समाज बच्चे से जैसी आशाएँ रखता है अर्थात जैसी प्रस्थिति एवं भूमिका प्रदान करता है बच्चे का व्यक्तित्व भी उसी के अनुरूप विकसित होता है। लिंग–भेद के आधार पर भी स्त्री व पुरूष को अलग–अलग प्रस्थिति एवं भूमिकाएँ प्राप्त होती है। अतः दोनो के व्यक्तित्व में भिन्नता देखने को मिलती है। लिंग के आधार पर लड़कों को प्रारम्भ से ही वीरता, शारीरिक श्रम, आत्मनिर्भरता एवं उत्तरदायित्व का पाठ पढ़ाया जाता है। जबकि लड़कियों से लज्जा, दया, कोमलता, प्रेम, सहानुभूति एवं सुकुमारिता की आशा की जाती है।

गोल्डन वाइज़र, मूरडॉक, मीड आदि विद्वानों ने व्यक्तित्व के विकास में लिंग–भेद को महत्वपूर्ण माना है। इसी प्रकार व्यक्तित्व को निश्चित करने में नातेदारी एवं आर्थिक स्थितियों का स्थान भी महत्वपूर्ण होता है।

(7) सामाजिक सीख की प्रक्रिया और व्यक्तित्व का विकास–क्यूबर ने लिखा है कि ''मनुष्य का व्यक्तित्व जन्म से ही पूर्ण नहीं होता है। जन्म के समय उसके पास न भाषा होती है, न समझ, उसके पास न कोई विचार होते हैं और न विश्वास, वह न नियम जानता है न संस्कृति, लेकिन सामाजिक सीख की लम्बी प्रक्रिया और अनुभवों के आधार पर उसमें व्यक्तित्व सम्बन्धी अनेक सामाजिक गुणों का समावेश हो जाता है।" वास्तव में हमारे व्यवहार के ढंग, आदतें, रूचियाँ, अभिवृत्तियाँ, आदर्श एवं मूल्य आदि सामाजिक सीख की प्रक्रिया द्वारा ही हमें प्राप्त होते हैं। मानव व्यवहार के निर्धारण में सबसे महत्वपूर्ण तथ्य संस्कृति है जिसे मनुष्य सीख की प्रक्रिया द्वारा ही अर्जित करता है। **किम्बाल यंग** ने सामाजिक सीख की प्रक्रिया स्पष्ट करते हुए लिखा है कि ''सामाजिक सीख कुशलताओं, तथ्यों और मूल्यों की प्राप्ति की ओर संकेत करता है जो दूसरे व्यक्तियों के साथ सम्पर्क में अभ्यास के फलस्वरूप आते हैं।'' सामाजिक सीख द्वारा प्राप्त की गई यह कुशलताएँ, तथ्य एवं मूल्य व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास में सहायक होती हैं। इन्हीं कुशलताओं एवं मूल्यों के आधार पर व्यक्ति अपने पर्यावरण के साथ अनुकूलन स्थापित करता है। पर्यावरण के साथ अनुकूलन स्थापित करना ही व्यक्तित्व का उद्देश्य है। जैसा कि **ऑलपोर्ट** ने कहा है कि ''व्यक्तित्व व्यक्ति की उन मनोवैहिक पद्धतियों का गतिशील संगठन है जो वातावरण के साथ उसका अद्वितीय समायोजन स्थापित करता है।'' इस प्रकार सीखने की प्रक्रिया के आधार पर व्यक्ति के व्यक्तित्व में उन गुणों का समावेश होता है जिनके आधार पर व्यक्ति अपने पर्यावरण के साथ समायोजन स्थापित करता है। वास्तव में परिस्थितियों से अनुकूलन स्थापित करने एवं अपनी रक्षा के लिए सीख बहुत आवश्यक है। हमारा व्यवहार, अभिवृत्तियाँ, आदतें, विचार मूल्य आदर्श, निष्ठाएँ, कुशलताएँ, स्थायीभाव आदि तथा वह सब कुछ जो हम आज हैं तथा कल होने की आशा एवं कल्पना करते हैं वह सब हमारी सीखने की प्रक्रिया पर ही आधारित है। इसी के आधार पर हमारे व्यक्तित्व का विकास होता है तथा पर्यावरण तथा परिवर्तित परिस्थितयों के साथ हमारा समायोजन सम्भव होता है। इसी आधार पर **किम्बाल यंग** ने कहा है कि ''सीखना व्यक्ति की उत्तेजन प्रत्युत्तर व्यवस्था में होने वाले उन परिवर्तनों को कहते हैं जो पर्यावरण में उत्पन्न उत्तेजनाओं पर निर्भर होते हैं।''

सीखने का एक और स्पष्ट परिणाम है–आदत। आदत शब्द का प्रयोग हम उन संगठित एवं अर्जित प्रतिक्रियाओं के लिए करते हैं जो बार–बार दोहराई जाती है। इस प्रकार नियमित समय पर उठना, भोजन करना, विद्यालय जाना, वस्त्र पहनना आदि व्यवहार आदतों के अन्तर्गत ही आते हैं। इन आदतों के आधार पर व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं को पूरा करता है तथा अपने एवं अपने पर्यावरण के बीच के सम्बन्धों को स्थिरता, दृढ़ता एवं

निरन्तरता प्रदान करता है। इन्हीं के कारण व्यक्ति सामाजिक नियमों एवं मान्यताओं के अनुसार कार्य करता है। मानव व्यक्तित्व में आदतों के इसी महत्व के कारण **जेम्स** ने आदतों को दूसरा स्वभाव कहा है। **मैरेट** ने भी लिखा है कि 'सीखना वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा प्रक्रियाओं व प्रतिक्रियाओं को हम नई आदतों के रूप में संगठित करते हैं।"

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सीखने की प्रक्रिया का व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है यही नहीं वरन् सीखने के कारकों को भी व्यक्तित्व के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका है। सीखने के कारकों को सामान्यतः मानसिक, शारीरिक, भौतिक सामाजिक तथा सांस्कृतिक पाँच निम्नलिखित भागों में विभाजित किया गया है–

(अ) सामाजिक सीख के मानसिक कारक तथा व्यक्तित्व विकास–सामाजिक सीख की प्रक्रिया में मानसिक कारकों की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण है। **हल्ल** ने सीखने की प्रक्रिया को प्रभावित करने वाले मानसिक कारकों में अन्तर्नोद प्रत्युत्तर, संकेत तथा पुनर्बलन को महत्वपूर्ण माना है। यह चारों कारक व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास में भी अपना योगदान देते हैं। अन्तर्नोद का तात्पर्य उन प्रेरणाओं अथवा उत्तेजनाओं से है जो अधिक शक्तिशाली होती हैं। इन चालकों के आधार पर ही व्यक्ति विभिन्न प्रकार के व्यवहार एवं व्यक्तित्व के गुणों को सीखता है। इस प्रकार जिस व्यक्ति में चालक शक्ति जितनी अधिक होती है वह अपने व्यक्तित्व में उतने ही नए–नए गुणों को सीखता है। चालक व्यक्ति को प्रत्युत्तर देने के लिए प्रेरित करते हैं। प्रथम प्रत्युत्तर ठीक होने पर व्यक्ति शीघ्र सीखता है। जिस व्यक्ति में प्रत्युत्तर की क्षमता जितनी अधिक होती है वह उतनी ही शीघ्रता से नवीन वस्तुओं को सीख जाता है। इसलिए बच्चों की प्रत्युत्तर देने की क्षमता में वृद्धि करने के लिए प्रशिक्षण दिया जाता है। संकेत यह निर्णय करते हैं कि प्रत्युत्तर क्यों, कब और कहाँ देने चाहिए। चालक व्यक्ति को प्रत्युत्तर देने को प्रेरित करते हैं लेकिन प्रत्युत्तर की दिशा, समय, स्वरूप और स्थिति का निर्धारण संकेत करता है। पुनर्बलन के अभाव में भी सीखना सम्भव नहीं है किसी व्यवहार से जब मनुष्य के उद्देश्य की पूर्ति हो जाती है अथवा वह पुरस्कृत हो जाता है तो व्यक्ति उस व्यवहार को बार–बार दोहराता है जिससे उसके व्यवहार की पुष्टि होती है। इस प्रकार ये चारों मानसिक तत्व व्यक्ति के सीखने की प्रक्रिया तथा उसके फलस्वरूप व्यक्तित्व को प्रमावित करते हैं।

(ब) सामाजिक सीख के शारीरिक कारक तथा व्यक्तित्व विकास–सामाजिक सीख की प्रक्रिया को प्रभावित करने वाले शारीरिक कारकों में अन्तःस्रावी गन्थियाँ, केन्द्रीय स्नायुमंडल, आयु, लिंग–भेद, बीमारियाँ, थकान, औषधियाँ, नशीली वस्तुएँ आदि महत्वपूर्ण हैं जो सीखने के साथ–साथ मानव व्यक्तित्व को भी बहुत अधिक प्रभावित करते हैं।

(स) सामाजिक सीख के भौतिक कारक तथा व्यक्तित्व विकास–मनुष्य की सीख की प्रक्रिया को प्रभावित करने में भौतिक कारक भी बहुत महत्वपूर्ण है। इनके अन्तर्गत जलवायु, ऋतुएँ, तापमान, प्रकाश, वायु आदि प्राकृतिक अथवा भौतिक परिस्थितयाँ व्यक्ति की शारीरिक एवं मानसिक विशेषताओं और मानव व्यक्तित्व को प्रभावित करती है।

(द) सामाजिक सीख के सामाजिक कारक तथा व्यक्तित्व विकास–मनुष्य की सीखने की प्रक्रिया में सामाजिक कारकों का भी अत्याधिक प्रभाव पड़ता है। सामाजिक कारकों के अन्तर्गत सुझाव, अनुकरण, सहानुभूति,

प्रतिस्पर्द्धा, सहयोग, प्रोत्साहन, प्रशंसा आदि विशेष महत्वपूर्ण है जिनका व्यक्ति के व्यवहारों, रूचियों एवं आदतों अर्थात व्यक्तित्व पर बहुत प्रभाव पड़ता है।

(य) सामाजिक सीख के सांस्कृतिक कारक तथा व्यक्तित्व विकास–मनुष्य के सीखने की प्रक्रिया पर धर्म, प्रथा, परम्परा, संस्थाएँ आदि सांस्कृतिक कारकों का भी महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। ये सांस्कृतिक कारक व्यक्ति के विचारों, मनोवृत्तियों, व्यवहारों आदि को प्रभावित करते हैं, क्योंकि व्यक्ति जिस संस्कृति के अन्तर्गत रहता है। उसी के अनुरूप उसे व्यवहार करना पड़ता है। संस्कृति व्यक्ति के व्यक्तित्व के लक्षणों का निर्धारण करती है तथा संस्कृति की इनमें संशोधन एवं परिवर्तन करती है। जन्म से लेकर मृत्यु तक व्यक्ति जो कुछ प्राप्त करता है। उसका आधार कोई न कोई सांस्कृतिक तत्व ही होता है। अतः प्रत्येक समाज में व्यक्तित्व के विकास में संस्कृति को अत्यन्त महत्वपूर्ण कारक के रूप में स्वीकार किया जाता है।

अनेक सामाजिक वैज्ञानिकों ने अपने अध्ययन के आधार पर यह सिद्ध किया है कि व्यक्ति के समाजीकरण का उसके व्यक्तित्व के विकास पर प्रभाव पड़ता है। प्रसिद्ध मानवशास्त्री **मीड** का यही मत है। **लिन्टन** के अनुसार ''विशिष्ट प्रकार के समाजीकरण के आधार पर एक विशिष्ट प्रकार के व्यक्तित्व का विकास होता है।'' मनोविश्लेषणवादी विद्वानों ने भी मनुष्य के प्रारम्भिक समाजीकरण की पद्धतियों को उसके व्यक्तित्व के विकास में महत्वपूर्ण माना है। **ग्रीन** ने भी लिखा है कि समाजीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा बालक सांस्कृतिक अर्न्तवस्तु सहित आत्म एवं व्यक्तित्व को प्राप्त करता है। व्यक्तित्व के विकास में समाजीकरण की भूमिका को महत्वपूर्ण मानते हुए **बोगार्डस** ने लिखा है कि ''एक प्रक्रिया के रूप में समाजीकरण के द्वारा व्यक्ति मानव कल्याण के लिए एक दूसरे पर निर्भर होकर व्यवहार करना सीखते हैं और ऐसा करने में वे सामाजिक आत्म–नियंत्रण, सामाजिक उत्तरदायित्व और संतुलित व्यक्तित्व का अनुभव करते हैं।"

4.9 सारांश

व्यक्तित्व के संबंध में समाज मनोवैज्ञानिकों के विभिन्न विचार हैं। इसकी परिभाषा विभिन्न प्रकार से दी जाती है। हमें व्यक्तित्व की वह परिभाषा उपयुक्त प्रतीत होती है जो व्यक्तित्व को सक्रिय बताती है और अंतरग्रसित व्यवहार की ओर इंगित करती है तथा व्यक्ति के वंशानुक्रमण और पर्यावरण में प्रतिक्रिया की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करती है। व्यक्तित्व के विकास में ये चार तत्व मुख्य रूप से प्रभावशाली होते हैं– (1) शरीर, (2) ग्रंन्थि–रचना, (3) पर्यावरण के तत्व तथा (4) सीखना। ग्रंथियों में जो सबसे अधिक प्रभावशाली है वे है एड्रिनल ग्रंथि, गोन्डस, थॉयरायड ग्रंथियाँ तथा पिटयूटरी ग्रंन्थि। परिवार संबंधी तत्वों में प्रमुख हैं– परिवार का प्रभाव तथा पाठशाला का वातावरण। **गार्डन ऑलपोर्ट** महोदय व्यक्तित्व के गुणों को सक्रिय परिवर्तित हो जाने वाले संस्कार समझते हैं जो कम–से–कम अंशतः रूप में विशिष्ट आदतों से उत्पन्न होते हैं और वातावरण में व्यवस्थापन के ढंग को बताते हैं। ये गुण वातावरण के प्रभाव को बदलते भी रहते हैं।

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि व्यक्तित्व एक विस्तृत एवं विभिन्न अर्थों वाली अवधारणा है। व्यक्तित्व के विकास की प्रक्रिया को तीन निर्माणक तत्वों के संदर्भ में समझा जा सकता है – (क) जैविकीय ढाँचा (ख) समाज और (ग) संस्कृति। अंततः यह कहा जा सकता है कि व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास में जैविकीय कारकों तथा समाजीकरण की प्रक्रिया का अत्याधिक महत्व है।

4.10 शब्दावली

I. **व्यक्तित्व**–व्यक्तित्व व्यक्ति का सम्पूर्ण मानसिक संगठन है जो उसके विकास के किसी भी अवस्था में होता है। व्यक्तित्व समाज द्वारा मान्य तथा अमान्य गुणों का संतुलन है। यह व्यक्ति के व्यवहारों का एक समायोजित संकलन है, जो व्यक्ति अपने सामाजिक व्यवस्थापन के लिए करता है।

II. **सामाजिक**–एक ऐसी स्थिति जिसमें एक व्यक्ति अपने आप को किसी समूह के साथ सक्रिय रूप में जुड़ा हुआ अनुभव करता है तथा समूह के हितों के प्रति जागरूक पाता है। एक अन्य परिप्रेक्ष्य में, व्यक्तियों अथवा समूहों के रूप में मानव प्राणियों की अन्तःक्रियाओं के आधार पर निर्मित पारस्परिक संबंध है। 'सामाजिक' शब्द का प्रयोग किसी भी ऐसी घटना के लिए किया जा सकता है जो सामाजिक प्रणालियों, उनकी विशेषताओं और व्यक्तियों को उनमें सहभागिता से जुड़ी हुई हों।

4.11 अभ्यास हेतु प्रश्न एवं उत्तर

1. ''मनुष्य की उत्कृष्ट विशेषता उसका व्यक्तित्व है।'' यह किसका कथन है–
   (अ) ऑलपोर्ट (ब) प्रिन्स (स) मन्न (द) ड्रेवर
2. निम्न में से कौन सा व्यक्तित्व विकास का सांस्कृतिक कारक नहीं है–
   (अ) परम्पराएँ (ब) प्रथाएँ (स) रूढ़ियाँ (द) सामाजिक संस्थाएँ
3. ''व्यक्तित्व क्या नहीं है'' और ''व्यक्तित्व क्या है'' की महत्वपूर्ण धारणा के जनक कौन हैं–
   (अ) प्रिन्स (ब) मन्न (स) न्यूकॉम्ब (द) ड्रेवर
4. निम्न में से कौन सा व्यक्तित्व विकास का जैविकीय आधार नहीं है–
   (अ) बुद्धि (ब) स्नायुमंडल (स) ग्रंथियाँ (द) परिवार
5. ऑलपोर्ट ने 'व्यक्तित्व' शब्द के प्रयोग के लिए कितने तरीके की एक सूची तैयार की है–
   (अ)25 (ब)50 (स)75 (द)100

<u>उत्तरमाला</u>

1. (अ) 2.(द) 3. (स) 4. (द) 5.(स)

4.12 संदर्भ ग्रंथ सूची

हार्श, चार्ल्स एम.– एवं एच.जी.शीकेल पर्सनेलिटी, रोनाल्ड,(1905) न्यूयार्क, यू0एस0ए0।

सिन्हा, जे0एन0– मनोविज्ञान (1960), लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा, (उ0प्र0)।

4.13 सहायक/उपयोगी पाठ्यसामग्री

Burgess E.W. and Paul Wallin - Engagement & Marriage (1953), Philadlephia, Lippincott.

W.H. Sheldon - The Varieties of Human,

(et.al) Physique (1940), Harper, New York-USA

4.14 निबंधात्मक प्रश्न

1. व्यक्तित्व विकास के जैविकीय आधार में बुद्धि का महत्व बताइये।
2. समाजीकरण और व्यक्तित्त्व पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
3. व्यक्तित्व से आप क्या समझते हैं? व्यक्तित्व को प्रभावित करने वाले प्रमुख कारकों की विवेचना कीजिए।
4. व्यक्तित्व की परिभाषा दीजिए तथा इसके प्रमुख प्रकारों का वर्णन कीजिए।

इकाई–5

सामाजिक सीखने का अर्थ, परिभाषा, सीखने की प्रक्रिया को प्रभावित करने वाले कारक, सीखने के सिद्धान्त

5.1 प्रस्तावना
5.2 सामाजिक सीखने का अर्थ
5.3 सामाजिक सीखने की परिभाषा
5.4 सीखने के प्रकार
5.5 सीखने की प्रक्रिया को प्रभावित करने वाले कारक
- मनोवैज्ञानिक कारक
- सामाजिक कारक
- भौतिक कारक

5.6 सीखने के सिद्धान्त
- प्रभाव का नियम
- स्थानापन्न का नियम
- पुरस्कार एवं दण्ड का नियम

5.7 सारांश
5.8 शब्दावली
5.9 स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न
5.10 निबन्धात्मक प्रश्न
5.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

5.1 प्रस्तावना

सीखना एक व्यापक सतत् एवं जीवनपर्यन्त चलने वाली प्रक्रिया है। मनुष्य जन्म के उपरांत ही सीखना आरंभ कर देता है और जीवन भर कुछ न कुछ सीखता रहता है। सीखने की प्रक्रिया मुख्यतः जैविक, मनोवैज्ञानिक, भौतिक तथा सामाजिक कारकों द्वारा प्रभावित होती है। विभिन्न मनोवैज्ञानिक द्वारा सीखने के महत्वपूर्ण सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये है।

प्रस्तुत इकाई में आप सामाजिक सीखने के अर्थ व परिभाषा से अवगत हो सकेंगे। इसके विभिन्न प्रकारों को जान सकेंगे। इस प्रक्रिया को प्रभावित करने वाले कारकों से परिचित हो सकेंगे। इसके अलावा सीखने के विभिन्न सिद्धान्तों का भी विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है ताकि आप इसकी विषयवस्तु को पूर्णतः समझ सकें।

5.2 सीखने का अर्थ

जीवन के प्रारंभ में मनुष्य अपने माता–पिता, परिवार तथा समाज के अन्य लोगों के सम्पर्क में आकर अपने अनुभवों तथा व्यवहार में परिवर्तन कर वातावरण के साथ समयोजन करना सीखना शुरू कर देता है। दूसरे शब्दों में, वातावरण के प्रति उपयुक्त प्रतिक्रिया को अपनाने की प्रक्रिया सीखना है। (Learning as the process of acquiring the appropriate responses.)

व्यक्ति जैसे–जैसे वृद्धि करता जाता है उसका शारीरिक–संवेदनात्मक संस्थान (Physio-sensory system) परिपक्व होता जाता है। यह भी उसे सीखने के लिए एक प्रेरक की भाँति कार्य करता है। सीखने में सामान्यतः दो तत्व सम्मिलित होते है–

1- परिपक्वता (Maturation)

2- अनुभवों से लाभ प्राप्त करने की योग्यता (The Ability to profit by experience)

सीखने की प्रक्रिया उस समय होती है जब व्यक्ति स्वयं को समाज में अनुकूलित करने की चेष्टा करता है क्योंकि उसके वातावरण में दूसरे सामाजिक प्राणी उपस्थित रहते है जो उस पर किसी न किसी प्रकार से प्रभाव डालते है और उसे सीखने के लिए प्रोत्साहित करते है इसलिए हम सीखने को एक सामाजिक प्रक्रिया की संज्ञा दे सकते है।

5.3 सीखने की परिभाषा

किम्बल यंग (1960) के अनुसार ''सीखना प्रतिक्रिया संस्थान में एक परिवर्तन है जो ऐच्छिक रूप से अथवा अचेतन रूप से नये उत्तेजकों को पुराने तथा नये प्रत्युत्तरों से सम्बन्धित करने के द्वारा लाया जाता है।''

Learning may be defined as "a change in response system brought about by deliberate or unconscious linkage or association of new stimuli and old or new responses."

-K.Young:Personality and Problems of Adjustment, p.70.

गिलफोर्ड (1965) के अनुसार ''व्यवहार के कारण व्यवहार में परिवर्तन ही सीखना है। ("Learning is any change in behaviour, resulting from behaviour.")

गेट्स के अनुसार ''अनुभव के द्वारा व्यवहार में रूपांतर लाना ही सीखना है।("Learning is modification of behaviour through experience.")

-Gates & Others : Educational Psychology, p. 238.

बर्नहर्ट के अनुसार ''सीखना व्यक्ति के कार्यों में एक स्थायी सम–परिवर्तन लाना है, जो निश्चित परिस्थितियों में किसी ईष्ट को प्राप्त करने अथवा किसी समस्या को सुलझाने के प्रयास में अभ्यास द्वारा लाया जाता है।

"Learning is defined as "the more or less permanent modification of an individual's activity in a given situation, due to practice in attempt to achieve some goal or solve some problems."

-Bernhardt : Practical Psychology, p.259.

हिलगार्ड (1966) के अनुसार ''सीखना वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा कोई क्रिया आरम्भ होती है या सामना की गई परिस्थिति के द्वारा परिवर्तित की जाती है। इसके लिए यह आवश्यक है कि क्रिया परिवर्तन की विशेषताओं को पैतृक प्रत्युत्तर प्रवृत्ति, परिवक्वता और जीव की अस्थाई अवस्थाओं के आधार पर समझाया न जा सके।

"Learning is the process by which an activity originators or is changed through reacting to an encountered situation provided that the characteristics of the change in activity cannot be exptained on the basis of native response tendencies, maturation or temporary status of organism.

-Hillguard

किम्बल यंग ने अपनी पुस्तक समाज–मनोविज्ञान में सामाजिक सीखने की परिभाषा इस प्रकार दी है–''सामाजिक सीखना कुशलता, तथ्यों और मूल्यों की प्राप्ति की ओर संकेत करता है जो कि हम दूसरे व्यक्तियों के साथ आचरण करने की परिणाम स्वरूप प्राप्त करते है।

"Social Learning , refer to the acquisition of skills, facts and values which comes about as a result of practice in our conduct with other persons."

-K.Young : A Hand-book of social Psychology, p.34.

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सीखना वह प्रक्रिया है जिसमें व्यवहार का परिमार्जन एवं संशोधन होता है। सीखने का सम्बन्ध किसी न किसी उद्देश्य से होता है, उद्देश्य के अभाव में सीखने की क्रिया असम्भव है।

सामाजिक सीखने में व्यक्ति विभिन्न कुशलताओं, तथ्यों मूल्यों के अतिरिक्त समाज में प्रचलित अनेक मान्यताओं तथा अन्य सामाजिक व्यवहारों को सीखता है। वह अपने संप्रत्ययों को संगठित कर संसार की समझ प्राप्त करता है वह सब सामाजीकरण द्वारा ही सीखता है। समाजीकरण के द्वारा ही वह भाषा सीखता है जिसके द्वारा वह अपने विचारों को व्यक्त कर दूसरों से बातचीत करता है। स्वयं की पहचान तथा स्वमूल्यांकन करना भी सामाजिक रूप से ही सीखता है। अतएव सामाजिक सीखने की प्रक्रिया एक महत्वपूर्ण प्रक्रिया है।

5.4 सीखने के प्रकार (Types of Learning)–

मनोवैज्ञानिकों ने सीखने की प्रक्रिया को निम्न प्रकारों में बाँटा है जिनका **अध्ययन हम विस्तारपूर्वक करेंगे–**

1- निरीक्षण द्वारा सीखना (Learning by Observation)
2- प्रयास एवं त्रुटि द्वारा सीखना (Learning by Trial and Error)
3- शास्त्रीय अनुबंधन द्वारा सीखना (Learning by Classical Conditioning)
4- सूझ द्वारा सीखना (Learning by insight)
5- प्रतीकात्मक सीखना (Symbolic Learning)

6- अनुकरणात्मक सीखना/मॉडलिंग (Imitative learning/Modelling)

1- निरीक्षण द्वारा सीखना (Learning by Observation) :– निरीक्षण वस्तुतः प्रत्यक्षीकरण ही है। उसमें अवधान और सम्मिलित कर लिया जाता है। निरीक्षण का तात्पर्य किसी वस्तु पर अवधान को केंद्रित करना है। अवधान के केन्द्रीकरण से प्रत्यक्षीकरण और अधिक समृद्ध होता है। निरीक्षण उस समय सफल होता है जब सीखने की क्रिया मूर्त वस्तुओं से आरंभ की जाती है।

प्रयास एवं त्रुटि द्वारा सीखना (Learning by Trial and Error) :– इस प्रकार के सीखने को सफल प्रतिक्रियाओं द्वारा सीखना (Learning by selection of the successful variant) भी कहते है। त्रुटि एवं प्रयास द्वारा सीखने में वह प्रतिक्रियाएँ शक्तिशाली हो जाती है जो कि सीखने वाले को संतुष्टि प्रदान करती है तथा जो प्रतिक्रियाएँ असफल होती है या बाधा उत्पन्न करने वाली होती है, समाप्त कर दी जाती है। जब एक अवस्था व्यक्ति को संतुष्टि देती है तब सीखने वाला उन प्रतिक्रियाओं से बचना नहीं चाहता। इसके विपरीत जब कोई प्रतिक्रिया सीखने वाले को कष्ट पहुँचाती है तो वह उसे दोहराना नहीं दोहराता। प्रायः ऐसे कार्य व प्रतिक्रिया को वह समाप्त ही कर देता है। इस विधि का प्रयोग करके बालक बहुत सी यांत्रिक क्रियाओं को सीखता है। वह खिलौनो से खेलना तथा कपड़े पहनना सीखता है।

3- शास्त्रीय अनुबंधन द्वारा सीखना (Learning by Classical Conditioning) :– अधिकांश मनोवैज्ञानिक, विशेष रूप से व्यवहारवादियों का यह विचार है कि यह सिद्धांत सीखने की क्रिया की लगभग ठीक व्याख्या करता है। विचार यह है कि सीखना एक प्रतिक्रिया को एक उद्दीपक के साथ सम्बद्ध कर देता है। सम्बद्ध क्रिया को समझने के लिए पावलॉव का कुत्ते के साथ किये गये प्रयोग का अध्ययन आवश्यक है। पावलॉव ने भोजन को देखने पर लार बहने की प्राकृतिक प्रतिक्रिया को घण्टी बजने के कृत्रिम उद्दीपक (artificial stimulus) से सम्बन्धित कर दिया। कुत्ते को भोजन देने से पहले घण्टी बजाई फिर भोजन दिया। इसके बाद केवल घण्टी बजाई गयी और भोजन नहीं दिया और प्रतिक्रिया को देखा। यह देखा गया कि अब भी लार बहने की प्रतिक्रिया हुई। तात्पर्य यह निकला कि घण्टी (कृत्रिम उद्दीपक) से लार बहने की प्राकृतिक क्रिया को नियन्त्रित कर दिया गया, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार एक प्राकृतिक उद्दीपक ने किया था। सम्पूर्ण सीखने को हम उस प्रकार की सम्बद्धता कह सकते है जो कृत्रिम प्रतिक्रिया को प्राकृतिक उद्देश्यों के साथ सम्बद्ध करती है।

अनुबन्धन द्वारा किस प्रकार सीखने की प्रक्रिया संपादित होती है यह निम्न चार्ट द्वारा दर्शाया गया है–

सीखने के पहले

अनुबन्धित उद्दीपक	–	इस प्रकार का कोई प्रत्युत्तर नहीं।
घंटी (पावलॉव)		लार टपकना
डॉक्टर (प्रतिदिन का अनुभव)	–	रोना

चूहा (वाटसन एवं रेनर)	–	भय
भनभन आवाज	–	चूसना

सीखने के समय

अनुबंधित उद्दीपक तथा अनअनुबंधित उद्दीपक – अनअनुबंधित अनुक्रिया

(C.S + U.C.S)	(U.C.R)
घंटी तथा भोजन	लार टपकना
डाक्टर तथा भय	रोना
चूहा तथा शोर	भय
भनभन आवाज तथा भोजन	चूसना

सीखने के बाद

अनुबंधित उद्दीपक	अनुबंधित अनुक्रिया
घंटी	लार टपकना
डाक्टर	रोना
चूहा	भय
भनभन आवाज	चूसना

सूझ द्वारा सीखना (स्मंतदपदह इल पदेपहीज):– गेस्टाल्टवादी सम्प्रदाय ने आकारात्मक सीखने (ब्वदपिहनतंजपवदंस समंतदपदह) को महत्व दिया है। ''आकारात्मक सीखने से तात्पर्य है कि प्रत्यक्षीकरण, स्मृति एवं साहचर्य आदि में जो भी सीखने के प्रमुख कारक है हमें उनसब को समग्र आकार में ध्यान में रखना आवश्यक है न कि विशिष्ट एवं निमित्त तत्वों के रूप में।'' ("The essence of this process is that in perception, association- in short, in relation to the important factors of learning we must deal with total configuration or patterned wholes, not with highly specific and discrete elements.)

-K.Young : A Hand Book of social Psychology, p.99

गेस्टाल्टवादी सम्प्रदाय ने सीखने में एक अन्य तत्व का प्रतिपादन किया है, जिसको सूझ कहते है। वह मानसिक संगठन जिसके द्वारा एक समस्या सहसा अपने सहसम्बन्धों के साथ स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ने लगती है, सूझ कहलाती है। साधारण शब्दों में यह क्रियाएँ सूझ द्वारा सीखने की क्रियाएँ कहलाती है जो व्यक्ति की स्थिति का अवलोकन कराकर समस्या को पूर्णरूप से समझने योग्य बनाती है। मानवों में यकायक किसी समस्या का हल निकाल लेना बहुधा देखा जाता है। हमारी बहुत सी खोजें तथा अंवेषण इस प्रकार की सूझ के उत्पन्न होने के कारण ही होती हैं। अंत में हम कह सकते है कि सीखने की स्थिति में सूझ से तात्पर्य यह है कि व्यक्ति संपूर्ण स्थिति को समझता है। सूझ उस समय सक्रिय होती है जबकि स्थिति का प्रत्यक्षीकरण होता है, कठिनाईयों को समझ लिया जाता है, उसके तत्वों का ज्ञान होता है एवं उसके उद्देश्य का पता होता है।

प्रतीकात्मक सीखना (लउइवसपब स्मंतदपदह):– प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक यंग के अनुसार सबसे जटिल या सबसे उच्च प्रकार का सीखना प्रतीकात्मक सीखना है, जिसमें प्रतीकों के साथ तार्किक ढंग से बर्ताव किया जाता है।''(The most complex or highest form of learning is the symbolic which involves the manipulation of symbols in reasoned or logical fashion.)

-K.Young

प्रतीकात्मक सीखना अधिकतर आंतरिक नियंत्रणों पर आधारित होता है। व्यक्ति आंतरिक वाणी के द्वारा अपने आपसे बात करना सीखता है। प्रतीकों का प्रयोग वस्तुओं के स्थान पर करना एवं सम्पूर्ण प्रत्युत्तरों को सूक्ष्म रूप से प्रदर्शित करना सीख लेता है। इस प्रकार का सीखना भाषा के ज्ञान पर निर्भर हो सकता है। प्रतीकात्मक सीखना बाह्य उद्दीपकों से नियन्त्रित, आंतरिक नियन्त्रणों की ओर परिवर्तित करने पर निर्भर रहता है। व्यक्ति की प्रतीकों द्वारा सीखने की कुशलता उसको किसी एक विशिष्ट परिस्थिति में कार्य करने तथा निर्णय करने योग्य बना देती है। इस प्रकार व्यक्ति अपने को स्वयं वातावरण में अनुकूलित करने के लिए एक अच्छी स्थिति में होता है।

6- उच्चस्तरीय अनुबन्धन (Higher Order Conditioning):– जब एक अनुबंधित उद्दीपक एक अनुबंधित अनुक्रिया को विश्वासपूर्ण ढंग से उत्पन्न करता है तो उच्चस्तरीय अनुबंधन की प्रक्रिया होती है। इससे तात्पर्य यह है कि अनअनुबंधित उद्दीपक जब कई बार एक अनुबंधित उद्दीपक के साथ दिया जाता है। तो वह स्वयं में एक अनुबंधित उद्दीपक बन जाता है। इस प्रकार के अनुबंधन द्वारा हम कुछ शब्दों के अर्थों को सीख सकते है। सीखना प्रारम्भ होने से पहले एक छोटा बच्चा एक वस्तु जिसे छूना मना है। उसको छूने में कोई ध्यान नहीं देता। किंतु यदि उसके छूने पर उसे पीटा जाता है तो उसकी प्रतिक्रिया दुःखपूर्ण होती है, अनुबंधन हो जाने के बाद बालक द्वारा वस्तु को छूना ही उसके अंदर भय उत्पन्न कर देता है। अर्थात् बालक उस भयग्रस्त वस्तु से दूर रहना सीख लेता है।

7- क्रियाप्रसूत अनुबन्धन (Operant Conditioning):– प्रसिद्ध व्यवहारवादी मनोवैज्ञानिक बी0एफ0 स्कीनर ने क्रियाप्रसूत अनुबन्धन द्वारा सीखने को प्रक्रिया को समझाया है। स्कीनर का मत था कि क्रियाप्रसूत व्यवहार ऐसा व्यवहार होता है जिसे व्यक्ति किसी उद्दीपक से प्रभावित होकर नहीं बल्कि अपनी इच्छा से करता है। ऐसे व्यवहार को करने के बाद यदि उसे पुरस्कार मिलता है तो भविष्य में ऐसे व्यवहार की पुनरावृत्ति होने की अधिक संभावना रहती है। परंतु यदि इस तरह के व्यवहार के बाद उसे दण्ड मिलता है तो वह उसे भविष्य में नहीं दोहराता। जिस प्रक्रिया द्वारा क्रियाप्रसूत व्यवहार का अनुबंधन होता है उसे क्रियाप्रसूत अनुबन्धन कहा जाता है। स्कीनर ने एक स्कीनर बॉक्स द्वारा चूहों पर प्रयोग करके उक्त तथ्य की व्याख्या की है।

8- अनुकरणात्मक सीखना (Imitative learning):– इस प्रकार के सीखने पर बाण्डुरा एवं वाल्टर्स ने बल दिया है। उन्होंने इसकी परिभाषा एक ऐसी प्रवृत्ति के रूप में दी है जो जीवित अथवा प्रतीकात्मक मॉडल के व्यवहार को पुनरूत्पादित करने की होती है। बालकों में बड़ों का अनुकरण करने की जन्मजात प्रवृत्ति होती है। माता–पिता बालकों को वांछित अथवा अवांछित व्यवहार सिखाने के लिए राष्ट्र के महान व्यक्तियों को मॉडल के रूप में प्रस्तुत करते है। आजकल समाज में प्रतीकात्मक मॉडल जो मौखिक, लिखित

अथवा चित्रित ढंग से प्रस्तुत किये जाते है वह विशेष रूप से महत्वपूर्ण समझे जाते है। बच्चों को चित्रों वाली पुस्तकें दी जाती है जिनमें महान व्यक्तियों के जीवन की महत्वपूर्ण घटनाएँ दी होती है। बालक उनसे प्रेरणा ग्रहण करता है और वांछित व्यवहार सीखता है। इस प्रकार बहुधा मॉडल का अनुकरण सीखने की गति में तीव्रता लाता है। बाण्डुरा रॉस एवं रॉस ने अपने प्रयोग द्वारा सिद्ध किया है कि मॉडल के व्यवहार का अनुकरण करके नई प्रतिक्रियाएँ सीखी जा सकती है।

उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट होता है कि सीखने का प्रकार चाहे कोई भी हो व्यक्ति के व्यवहार में वांछित परिवर्तन लाने हेतु सीखने का प्रत्येक प्रकार अपने आप में महत्वपूर्ण स्थान रखता है।

5.5 सामाजिक सीखने की प्रक्रिया को प्रभावित करने वाले कारकः–

सामाजिक सीखना एक जटिल प्रक्रिया है इस प्रक्रिया को अनेक कारक प्रभावित करते है। सीखने को प्रभावित करने वाले कारकों को हम मुख्य रूप से चार भागों में विभाजित कर सकते है–

1. **मनोवैज्ञानिक कारक (Psychological Factors)**
2- **शरीरिक कारक (Physiological Factors)**
3- **सामाजिक कारक (Social Factors)**
4- **भौतिक कारक (Physical Factors)**

I. सीखने के मनोवैज्ञानिक कारक (Psychological Factors of Learning):– सीखने के कुछ मनोवैज्ञानिक कारक है जिनका वर्णन निम्नलिखित है–

1- अन्तर्नोद (Drive):– मनोविज्ञान के क्षेत्र में सर्वप्रथम वुडवर्थ ने सन् 1918 में इस शब्द का प्रयोग किया। अन्तर्नोद वह परिस्थिति है जो प्राणी में शारीरिक और मनोवैज्ञानिक आवश्यकता से उत्पन्न होती है। आइजनेक और उनके साथियों (1972) के अनुसार ''अन्तर्नोद वह दैहिक अवस्था परिस्थितियाँ है– जैसे खाने से वंचित रखना, जो व्यवहारिक कार्य क्षमता को बढ़ा देती है। (Certain psychological states such as food deprivation, tend to increase animals behavioural output).

डोलार्ड और मिलर (1941) के अनुसार, अन्तर्नोद वह शक्तिशाली उत्तेजनाएँ है जो कार्य को प्रेरित करती है। कोई भी उत्तेजना अन्तर्नोद बन सकती है यदि वह अधिक शक्तिशाली है। उत्तेजना जितनी अधिक शक्तिशाली होगी अंतर्नोद कार्य उतना ही अधिक होगा। (Strong stimuli which impel action are drive. Any stimulus can become a drive if it is made strong enough. The stronger the stimulus the more drive function it possesses).

जो अन्तर्नोद जन्म से उपस्थित होते है उन्हें जन्मजात अन्तर्नोद कहते है जैसे–भूख (Hunger), प्यास(Thirst), निद्रा (Sleep) और काम (Sex) आदि। यह जैविक अंतर्नोद भी कहलाते है तथा अधिक शक्तिशाली होते है। कुछ अन्तर्नोद की उत्पत्ति व्यक्ति अपने जीवनकाल में सीखता है इन्हें अर्जित अन्तर्नोद तथा सामाजिक अंतर्नोद भी कहा जाता है। जन्मजात तथा अर्जित दोनों प्रकार के अंतर्नोद अपना अलग–अलग स्थान रखते है।

अंतर्नोद और प्राणी के सीखने में घनिष्ठ सम्बन्ध होता है जिन व्यक्तियों में अंतर्नोद का अभाव होता है वे अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा सीखने में कमजोर होते है। व्यक्ति व्यवहार के जिस पहलू को सीख रहा है उससे सम्बन्धित अंतर्नोद यदि उनमें उपस्थित है तो उसे उस अंतर्नोद की उपस्थिति से प्रेरणा मिलेगी और वह व्यक्ति उस कार्य को जल्दी सीख लेगा। डोलार्ड एवं मिलर (1941) के अनुसार ''पूर्ण रूप से स्वयं संतुष्ट व्यक्ति कमजोर सीखने वाले होते है।'' (Completely self satisfied people are poor learners.)

2- संकेत या क्यू (Cue) :– यह भी व्यक्ति के सीखने की प्रक्रिया का एक महत्वपूर्ण कारक है। किम्बल यंग (1960) के अनुसार ''संकेत ही इस बात को निश्चित करते है कि व्यक्ति कब, कहाँ और कौन सी प्रक्रिया करेगा।'' (The cue determines when, where and which response an individual will make) उदाहरण के लिए एक भूखा व्यक्ति अनेक स्थानों पर अपनी भूख मिटा सकता है परंतु वास्तव में एक व्यक्ति भूख शांत करने के लिए क्या करेगा यह संकेतों पर ही निर्भर करता है अर्थात् भूखा व्यक्ति कब, कहाँ और क्या खाना खायेगा। यह संकेतों पर ही निर्भर करता है।

संकेत कभी–कभी अन्तर्नोद का कार्य करते है। उदाहरण के लिए सुन्दर स्त्री के हाव–भाव को देखकर किसी पुरूष की कामेच्छा जागृत हो सकती है यहाँ सुन्दर स्त्री के हाव–भाव संकेत का कार्य करते हैं। अन्तर्नोद और संकेत दोनों ही उत्तेजनाओं से उत्पन्न होते है। अंतर्नोद के जाग्रत हो जाने से ही कोई व्यक्ति कार्य नहीं सीख लेता है। वह कार्य को तब तक नहीं सीखता जब तक कि उसे संकेत ज्ञात नहीं होते अर्थात् वह कब कहाँ और क्या प्रतिक्रिया करे।

3- अनुक्रिया (Response) :– हल के अनुसार अनुक्रिया भी सीखने का महत्वपूर्ण कारक है। अन्तर्नोद व्यक्ति को अनुक्रिया करने के लिए प्रेरित करते है। यह देखा गया है कि यदि व्यक्ति की पहली अनुक्रिया सही है तो व्यक्ति जल्दी सीख लेता है। छोटे बच्चों की अपेक्षा बड़े बच्चे शीघ्रता से सीख लेते है क्योंकि वे नयी परिस्थितियों के प्रति अपेक्षाकृत सही अनुक्रिया करते है। एक व्यक्ति सही अनुक्रियायें तभी कर सकता है जबकि वह संकेतों को भली भाँति जानता पहचानता है। अनुक्रियाओं में स्तरीकरण (Hierarchy) होता है। कुछ क्रियाओं के घटित होने की संभावना अधिक और कुछ अनुक्रियाओं के घटित होने की संभावना कम होती है। पुरस्कृत अनुक्रियाएँ पहले प्रगर होती है। सीखने के कारण अनुक्रियाओं के स्तरीकरण में परिवर्तन हो जाता है और व्यवहार संशोधित या परिवर्तित हो जाता है। अतः हम कह सकते है कि सीखना अनुक्रियाओं के क्रम में परिवर्तन करना है।

4- पुनर्बलन (Reinforcement):– जब किसी प्रत्युत्तर को पुरस्कार दिया जाता है और पुरस्कार के फलस्वरूप प्रत्युत्तर की पुनरावृत्ति हो तो इसे पुनर्बलन कहा जा सकता है। किसी अंतर्नोद की तीव्रता को पुरूस्कार के द्वारा कम करना पुनर्बलन कहलाता है। अन्तर्नोद के अभाव में पुनर्बलन सम्भव नहीं है। हल के अनुसार किसी व्यक्ति के सीखने के लिए केवल पुनरावृत्ति ही आवश्यक नहीं है वरन् पुनरावृत्ति के साथ–साथ आनन्द अथवा सुख या संतुष्टि का अनुभव भी आवश्यक है। अतः सीखने की प्रक्रिया पुनर्बलन महत्वपूर्ण योगदान है।

5- प्रत्याशा या उम्मीद (Expectancy):– जब कोई व्यक्ति, वस्तु या घटना की प्रत्याशा रखता है तब वह इस अवस्था में भी जल्दी सीख लेता है। यह देखा गया है कि व्यक्ति प्रत्याशा की उपस्थिति में उत्तेजना पर अधिक ध्यान देता है यही कारण है कि व्यक्ति प्रत्याशा की उपस्थिति में जल्दी सीखता है।

6- सामान्यीकरण और विभेदीकरण (Generalization & Discrimination):– जब कोई व्यक्ति एक प्रकार की उत्तेजना के प्रति अनुक्रिया करना सीख लेता है तो उस उत्तेजना से मिलती–जुलती अन्य के प्रति भी उत्तेजनाओं भी प्रतिक्रिया करना सामान्यीकरण के आधार पर जल्दी सीख लेता है। इसी प्रकार व्यक्ति दो उत्तेजनाओं में तुलना करके विभेदीकरण के आधार पर सीखता है। जब एक समान बहुत सी उत्तेजनाएँ उपस्थित होती है तब व्यक्ति विभेदीकरण के आधार पर ही सीखता है।

7- परिणामों का ज्ञान (Knowledge of Results):– यह देखा गया है कि परिणामों का ज्ञान भी सीखने वाले व्यक्ति को प्रेरित करता है। यदि किसी व्यक्ति को सिखाते ही चले जाये परंतु उसे यह न बतायें कि उसका सीखना प्रगतिपूर्ण है या त्रुटिपूर्ण तो ऐसे व्यक्ति की एक अवस्था के बाद सीखने की गति मंद और अंत में समाप्त हो जायेगी। अतः परिणामों का ज्ञान सीखने वाले व्यक्ति के लिए आवश्यक है।

8- अभ्यास (Practice):– सीखने की प्रक्रिया को अभ्यास की प्रभावित करता है। किसी नयी क्रिया को जीव जितनी बार दुहरायेगा या अभ्यास करेगा वह क्रिया उतनी ही जल्दी दृढ़ हो जायेगी। थॉर्नडाइक के अनुसार जब किसी स्थिति विशेष के प्रति बार–बार एक ही क्रिया की पुनरावृत्ति की जाती है तो उस परिस्थिति और अनुक्रिया के बीच सम्बन्ध स्थापित हो जाता है।

II. सीखने के शारीरिक कारक (Physiological factors in learning)

1- केन्द्रीय तंत्रिका तंत्र (Central Nervous System):– केन्द्रीय तंत्रिका तंत्र के दो मुख्य भाग है– सुषुम्ना नाड़ी (Spinal Card) तथा मस्तिष्क (Brain)। जिन व्यक्तियों में इन दोनों अंगों का सामान्य विकास नहीं होता है उनमें सीखने की प्रक्रिया भी सामान्य रूप में सम्पादित नहीं हो पाती है। सरल सीखी हुई क्रियाओं का संचालन और नियन्त्रण सुषुम्ना करती है तथा उच्च क्रियाओं का संचालन और नियन्त्रण मस्तिष्क के अग्र भाग से होता है। अग्र भाग का सम्बन्ध तुरंत सीखी गयी क्रियाओं से होता है। यदि इस भाग को क्षतिग्रस्त कर दिया जाये तो व्यक्ति तुरंत सीखी गयी क्रियाएँ भूल जाता है। अतः सीखने में केन्द्रीय तंत्रिका तंत्र का महत्वपूर्ण स्थान है क्योंकि बुद्धि, स्मृति, तर्क आदि मस्तिष्क से ही सम्बन्धित है। यदि केन्द्रीय स्नायु प्रणाली स्वस्थ नहीं है तो यह मानसिक योग्यताएँ भी सामान्य नहीं होंगी और ऐसी अवस्था में व्यक्ति का सीखना सामान्य कैसे हो सकता है।

2- अंतःस्रावी ग्रंथियाँ (Endocrine Glands):– अंतःस्रावी ग्रंथियों से जो स्राव निकलता है वह रक्त में मिलकर सम्पूर्ण शरीर में फैलकर शारीरिक क्रियाओं और व्यवहारों को प्रभावित करता है। जब यह ग्रन्थियाँ सामान्य रूप से कार्य करती है तो तब स्राव की मात्रा सामान्य और इसके फलस्वरूप व्यक्ति का व्यवहार भी सामान्य होता है। इस अवस्था में सीखने की प्रक्रिया भी सामान्य रूप से चलती है। परंतु स्राव की कमी या अधिकता में व्यक्ति की सभी शारीरिक व मानसिक प्रक्रियाएँ प्रभावित होती है अर्थात् सीखना भी प्रभावित होता है। उदाहरणार्थ– थायरॉइड ग्रंथि के नष्ट हो जाने से व्यक्ति को मायक्सीडिमा (Myxaedema) नामक

रोग हो जाता है जिससे व्यक्ति में शिथिलता आ जाती है, मस्तिष्क और पेशियों की क्रिया मंद पड़ जाती है, ध्यान लगाना, चिन्तन करना आदि कार्य कठिन हो जाते है। इसी प्रकार अग्नाशय के असामान्य रूप से कार्य करने पर व्यक्ति के स्वभाव में परिवर्तन अर्थात् चिड़चिड़ापन आ जाता है।

इसी प्रकार स्पष्ट है कि जब किसी व्यक्ति में अंतःस्रावी ग्रंथियाँ ठीक ढंग से कार्य नहीं करती तो व्यक्ति के व्यवहार में असमान्यता आ जाती है जो सीखने में सहायक न होकर बाधक ही सिद्ध होती है।

3- रोग (Diseases):– सभी प्रकार के शारीरिक और मानसिक रोग सीखने में बाधक होते है। व्यक्ति की मानसिक योग्यताओं को प्रत्येक शारीरिक रोग कुछ न कुछ प्रभावित करता है। रोगों की उपस्थिति में मानसिक क्षमताएँ क्षीण हो जाती है या उनके कार्यों में असमान्यता आ जाती है। ऐसी अवस्था में जब मानसिक क्षमता का कार्य न हो तो क्या सीखना सामान्य हो सकता है, कभी नहीं।

4- थकान (Fatigue):– थकान व्यक्ति की वह शारीरिक और मानसिक अवस्था है जिसमें दूषित पदार्थों के उत्पन्न होने से व्यक्ति की कार्यक्षमता कम हो जाती है और कार्य करने में मन नहीं लगता। अतः इस अवस्था में सीखना निश्चित रूप से प्रभावित होगा। शारीरिक रूप से थके हुए व्यक्ति में कुछ न कुछ मानसिक थकान भी होती है। अतः ऐसे व्यक्तियों को मानसिक कार्यों को भी सरलता से नहीं सिखाया जा सकता है। व्यक्ति की शारीरिक थकान हो या चाहे मानसिक थकान दोनों ही सीखने में बाधक है।

5- लिंग भेद (Sex Difference):– व्यवहार के अनेक क्षेत्रों में प्रकृति की दृष्टि से स्त्री और पुरूष दोनों की सीखने की क्षमता लगभग समान है। यह कहना गलत होगा कि स्त्रियाँ पुरूषों की अपेक्षा सीखने में या पुरूष स्त्री की अपेक्षा सीखने में कमजोर होते है। यदि सीखने में लिंग भेद है तो यह अंतर समाज की परिस्थितियों एवं सामाजिक मूल्यों के कारण है। एक समाज में व्यवहार के एक क्षेत्र में यदि स्त्रियाँ पुरूषों से सीखने में पीछे है तो आवश्यक नहीं कि संसार के सभी समाज में यही स्थिति हो। समाज में प्रत्येक पुरूष ओर स्त्री अपने पद ओर प्रतिष्ठा के आधार पर बहुत से कार्यों को सीखते व करते है।

6- मादक पदार्थ (Drugs):– विभिन्न मादक पदार्थ जैसे शराब, गाँजा, चरस, अफीम, सुल्फा, तम्बाकू आदि सीखने में हानिकारक है। इन नशीले पदार्थों को आवश्यकता से अधिक प्रयोग करने पर व्यक्ति की मानसिक क्षमताओं पर नकारात्मक प्रभाव पड़ता है जिससे उस व्यक्ति का व्यवहार भी असामान्य हो सकता है। व्यक्ति को इस अवस्था में उतना अधिक और अच्छा नहीं सिखाया जा सकता जितना कि सामान्य अवस्था में। अतः मादक पदार्थों का सेवन भी सीखने की प्रक्रिया में बाधक तत्व है।

सीखने में सामाजिक कारक (Social Factors in Learning):–

1. **सामाजिक प्रोत्साहन (Social Encouragement):–** समाज में मिलने वाला प्रोत्साहन भी व्यक्ति के सीखने को प्रभावित करता है। सामाजिक प्रोत्साहन व्यक्ति को समाज के अंदर व्यक्तियों से या तो मौखिक रूप से मिलता है या सामाजिक रूप से सुविधाओं के रूप में मिलता है। जिस समाज में व्यक्ति को सामाजिक प्रोत्साहन मिलता हैया सुविधाओं के रूप से अधिक व्यवहार कुशल होते है।

2- प्रशंसा और निन्दा (Praise & Blame):– प्रशंसा और निन्दा भी महत्वपूर्ण कारक है जिनकी उपस्थिति में सीखने वाले व्यक्ति को प्रोत्साहन मिलता है। यह देखा गया है कि यदि व्यक्ति के सीखते समय अच्छे प्रयासों या कार्यों के लिए प्रशंसा की जाए और त्रुटिपूर्ण प्रयासों या कार्यों के लिए निन्दा की जाये तो इस अवस्था में प्रशंसा और निन्दा व्यक्ति के सीखने में सहायक होते है अर्थात् प्रेरक का कार्य करते हैं।

3- अनुकरण (Imitation):– किम्बल यंग (1960) के अनुसार ''एक ऐसी क्रिया करना है जो किसी अन्य व्यक्ति की क्रिया के समान या उससे मिलती–जुलती हो।'' (Setting up an act which is identical or similar to the act of another)

अनुकरण के द्वारा एक बच्चा समाज में प्रचलित भाषा को ही नहीं सीखता बल्कि वह सामाजिक व्यवहार, रीति–रिवाज, फैशन, वेश–भूषा सामान्य संस्कृति और सभ्यता को भी अनुकरण के द्वारा सीखता है। अतः अनुकरण सीखने का एक महत्वपूर्ण सामाजिक कारक है। टार्डे के अनुसार अनुकरण पर समस्त समाज निर्भर है। सम्पूर्ण सामाजिक प्रक्रिया अनुकरण और आविष्कार पर आधारित है इसीलिए समाज में अनुकरण का महत्वपूर्ण स्थान है। बालक सामाजिक व्यवहार और परम्पराओं का अपने माता–पिता, गुरूजनों एवं परिवार तथा समाज के अन्य व्यक्तियों से सीखता है। अनुकरण के कारण ही समाज की संस्कृति पीढ़ी दर पीढ़ी चलती है। इतना ही नहीं बल्कि अनुकरण के द्वारा समाज में नये विचार भी तेजी से फैलते है।

4- सुझाव (Suggestion):– किम्बल यंग (1960) के अनुसार ''सुझाव शब्दों, चित्रों या किसी प्रकार के किसी दूसरे माध्यम द्वारा दिया जाने वाला वह सन्देश है जो प्रमाण या तर्क के बिना स्वीकार कर लिया जाता है।'' (**Suggestion is a form of symbol communication by words, pictures or some similar medium including acceptance of the symbol without any self evident or logical ground for its acceptance.**)

सामाजिक व्यवहार को सीखने में सुझाव एक महत्वपूर्ण कारक है। सुझावों के द्वारा भी व्यक्ति समाज में प्रचलित रीति–रिवाजों, मूल्यों, आदर्शों आदि को सीखता है। हुल्यालकर तथा उनके साथियों (1960) के अनुसार सामाजिक जीवन में सुझाव का बहुत महत्व है। यह एक महत्वपूर्ण तरीका है जिसके द्वारा व्यक्तियों के व्यवहार को बदला जा सकता है। व्यक्ति के समाजीकरण में भी इसका मुख्य कार्य है।'' (Suggestion plays a great part in social life. It is an important way of modifying an individual's behaviour. Suggestion plays a key role in the socialisation of individual By it persons made, unmade and remade)''.

5- सहानुभूति (Sympathy):– अवलोकन (1960) के अनुसार ''सहानुभूति का अर्थ है– इसी प्रकार के संवेग का अनुभव करना, जिसका अनुभव हमारा साथी करता है।'' (This means experiencing any emotion which is experienced by a fellow-being)

सहानुभूति के द्वारा ही व्यक्ति दूसरे के कष्टों का साझीदार बनना सीखता है। दूसरों को सांत्वना देना सीखता है। इसी के द्वारा व्यक्ति को वश में किया जा सकता है और जब कोई व्यक्ति वश में हो तो उसे सरलता से सिखाया जा सकता है। अतः सीखने में सहानुभूति एक महत्वपूर्ण कारक है।

IV. सीखने में भौतिक कारक (Physical Factors in Learning):– भौतिक कारकों का अभिप्राय वातावरण सम्बन्धी कारकों से है। सीखने की प्रक्रिया को प्रकाश, तापक्रम, वायु की शुद्धता–अशुद्धता, शोरगुल, वायु की नमी, ध्यान को प्रभावित करते है। इस सम्बंध में अनेक प्रयोगात्मक अध्ययनों के आधार पर इन कारकों के महत्व और प्रभाव को सिद्ध किया जा चुका है। भौतिक कारक भी सीखने की प्रक्रिया को महत्वपूर्ण ढंग से प्रभावित करते है।

सामाजिक सीखने के अन्य महत्वपूर्ण कारकः– यहाँ हम उन महत्वपूर्ण कारकों को अध्ययन करेंगे जो एक निश्चित सीमा तक सामाजिक सीखने को संगठित करने के लिए उत्तरदायी है जिनका वर्णन निम्नलिखित है–

1- सुगमता का अवरोध (Facilitation and Inhibition):– जब एक अनुक्रिया अन्य अनुक्रियाओं में वृद्धि करती है तो उसे हम सुगमता कहते है। उदाहरण के लिए जब एक टेनिस का खिलाड़ी अपने खेल को कम या अधिक पुरस्कार जीतने से सम्बन्धित कर देता है तो यह पुरस्कार एक ऐसे उत्तेजक की तरह से कार्य करता है जो किसी भी दूसरी अनुक्रिया की पुष्टि करता है जो कि टेनिस के खेल से सम्बन्धित हो। वह अपने खेल में टेनिस के बल्ले को अच्छी प्रकार से पकड़कर या विशिष्ट प्रकार से गेंद हिट लगाकर अच्छे ढंग से गेंद को हाथ में पकड़कर अपने खेल को अच्छा बनाता है।

कभी–कभी यह भी देखा गया है कि एक क्रिया दूसरी क्रिया के होने में रूकावट या बाधा उत्पन्न कर देती है इसे अवरोध कहते है। उदाहरण के लिए, जब हम क्रोधित होते है। तब तर्कपूर्ण मत को तैयार नहीं होते और बहुधा हमारे निर्णय गलत हो जाते है। जब किसी कार्य के पश्चात् कोई पुरस्कार नहीं मिलता तो यह व्यक्ति को उस कार्य को दुबारा दोहराने से रोक सकता है। लोपीकरण (Extinction) अवरोध का एक विशिष्ट प्रकार है लोपीकरण उस समय होता है जब किसी प्रतिक्रिया को पुरस्कार प्राप्त नहीं होता। डोलार्ड एवं मिलर के अनुसार जब एक सीखा गया प्रत्युत्तर बिना पुष्टिकरण के दोहराया जाता है तो उस प्रवृत्ति की शक्ति जो उस प्रत्युत्तर को सक्रिय करती है क्रमशः घटती जाती है। यह कभी प्रयोगात्मक लोपीकरण या अधिक सरल भाषा में लोपीकरण कहलाती है।'' (**When a learned response is repeated without reinforcement, the strength of the tendancy to perform that response undergoes a progressive decrease. This decrement is called experimental extinction, or more simply extinction.**)

2- विभेदीकरण तथा सामान्यीकरण (Discrimination and Generalisation):– विभेदीकरण एक ऐसी क्रिया है जो अनेक अनुभवों के बीच में महत्वपूर्ण अंतरो का प्रत्यक्षीकरण करती है। उदाहरण के लिए, एक बालक यह सीख जाता है कि अपना कुत्ता नुकसान नहीं पहुँचाता या काटता नहीं है जबकि एक अजनबी कुत्ता काटता है। विभेदीकरण के द्वारा सीखने वाला अनेक पूर्व अनुभवों में से उन अनुभवों को चुन लेता है जो कि निकटतम रूप से उस नई समस्या के हल में प्रयोग किये जा सकते है। जबकि सामान्यीकरण अनेक अनुभवों में से महत्वपूर्ण सम्बन्ध समानताएँ एवं आकार जो सब में समान होता है, निकालने की प्रतिक्रिया है। उदाहरण के लिए एक बालक अनेक हरे सेबों को खाकर इस सामान्यीकरण को बना लेता है कि सब हरे सेब खट्टे होते है।

3- पूर्वाक्षित प्रत्युत्तर (Anticipatory Response) :– पूर्वापेक्षित प्रत्युत्तर में हम आने वाले उद्दीपक की ओर बढ़ना सीख लेते है। हम मिठाई की दुकान में मिठाइयों का देखकर लार टपकने लगते है। यह लार टपकाने की प्रक्रिया हमारे पूर्वापेक्षित प्रत्युत्तर के कारण होती है। यह हमारे सामाजिक जीवन में बहुत महत्वपूर्ण है। सामाजिक प्रत्याशा इत्यादि इस सिद्धांत पर आधारित है।

4- संघटन (Integration) :– संघटन एक अन्य कारक है जो सीखने में महत्वपूर्ण है। यह प्रक्रिया सब प्रकार के गतिमानी सीखने में दिखाई पड़ती है। संघटन द्वारा असंगठित गतियों में सुसंगठन आ जाता है और वह अधिक बड़े तथा अधिक प्रभावशाली नमूनों में परिवर्तित हो जाते है। जब हम टेनिस खेलते है तो प्रारम्भ में हमारी गतियाँ अस्त–व्यस्त होती है किंतु धीरे–धीरे हम संघटन के द्वारा व्यवस्था लाते है तथा एक कुशल खेल खेलना सीख जाते है जिसमें कि बड़े या छोटे माँसपेशियों के समूहों का एकीकरण प्रभावशाली ढंग से हो जाता है। एक व्यक्ति समाज के कर्त्ता का अनुकरण करना सीखता है किंतु उसकी स्वयं की भी क्रियाएँ रूचियाँ तथा अभिरूचियाँ होती है। सामाजिक सीखने में कर्त्ता के अनुकरण एवं व्यक्ति के विचारों इत्यादि में संघटन लाया जाता है।

5.6 सीखने के मूल सिद्धान्त (Basic Principles of learning)

सीखने के 3 मुख्य सिद्धान्त है–

1. प्रभाव का नियम (Law of effect)
2. स्थानापन्न का नियम (Law of substitution)
3. पुरूस्कार एवं दण्ड (Law of Reward and Punishment)

हम यहाँ उपरोक्त सभी नियमों का अध्ययन विस्तारपूर्वक करेंगे।

1- प्रभाव का नियम (The Law of Effect):– इस नियम का प्रतिपादन थॉर्नडाइक द्वारा किया गया। इस नियम का तात्पर्य यह है कि ''सन्तोषजनक परिणाम शक्तिवर्द्धक होते है और कष्टकारक तथा प्रतिक्रिया के सम्बन्ध को निर्बल बना देते है।'' ''(Satisfying results strengthen and discomfort weakens the bond between situation and response)'' इस नियम के साथ–साथ थॉर्नडाइक ने दो अन्य नियम भी दिए हैं। वे हैं– तत्परता का नियम तथा अभ्यास का नियम। यह तीनों नियम इस बात पर बल देते है कि सीखने की क्रिया में सफलता एवं असफलता बहुत महत्वपूर्ण होती है। किसी कार्य में सफलता सामान्य रूप से ऐसे भाव के साथ जुड़ जाती है जो सीखने की प्रतिक्रिया पर अच्छा प्रभाव डालती है किंतु असफलता विपरीत प्रकार की संवेगात्मक स्थिति को उत्पन्न करती है और इसलिए सीखना कम होता है। संवेगात्मक दशाएँ अभ्यास पर प्रभाव डालती है और अभ्यास में संवेगात्मक प्रभाव से इस बात का पता चलता है कि बालक एक अन्य स्थिति में सीखने के लिए कितना तत्पर है एक बालक जो असफल हुआ है अपने पाठ को पढ़ने के लिए तत्पर नहीं रहता किंतु जो सफल होता है वह पढ़ने के लिए मानसिक रूप से अधिक तत्पर हो जाता है।

2- स्थानापन्न का नियम (Law of Substitution):– स्थानापन्न का नियम सम्बद्धता के नियम पर आधारित है। पावलॉव द्वारा कुत्ते के साथ किये गये प्रयोग का वर्णन करते समय हमने इस बात की व्याख्या की थी कि कृत्रिम उद्दीपक–घण्टी का बजना– ने प्राकृतिक उद्दीपक–भोजन की उपस्थिति का स्थानापन्न कर दिया। हमारे दैनिक जीवन में इस प्रकार का स्थानापन्न जो प्राकृतिक उद्दीपक के स्थान पर कृत्रिम उद्दीपक को प्राकृतिक प्रत्युत्तर से सम्बन्धित कर देता है, बराबर चलता रहता है। हमारे सामाजिक जीवन में इस प्रकार का स्थानापन्न बहुधा मिलता है। हम कोई विशिष्ट तस्वीर या चित्र देखते है या किसी प्रतीक की ओर तो तुरंत ही कोई ऐसा कार्य करके लगते है जो उस उद्दीपक से किसी भी प्रकार से सम्बन्धित न हो। ऐसा इस कारण होता है क्योंकि हमने इस तस्वीर या प्रतीक को प्राकृतिक प्रत्युत्तर देने में वह स्थान दिया है जो कि प्राकृतिक उद्दीपक का था। यह याद रखना चाहिए कि बहुधा स्थानापन्न अचेतन रूप से होता है।

3- पुरस्कार एवं दण्ड का नियम (The Principle of Reward and Punishment):– इस सिद्धान्त पर हल ने प्रकाश डालते हुए कहा है। उनका कथन है कि पुष्टीकरण उस समय होता है जबकि उसके साथ काई पुरूस्कार जुड़ा होता है। जब प्रणोद का प्रारम्भ होता है तो यह बताते है कि कब, कहाँ और क्या प्रतिक्रिया होगी। पुरस्कार प्रणोद की संतुष्टि की ओर संकेत करते है।

सकारात्मक पुरस्कारों के साथ नकारात्मक दण्ड भी सीखने की क्रिया में महत्वपूर्ण है। सामाजिक जीवन में दण्ड एवं पुरस्कार प्रभावशाली हो जाते है और कभी–कभी स्थानापन्न की क्रिया द्वारा उच्च सामाजिक, सांस्कृतिक रूप ले लेते है। अतएव एक स्त्री अच्छे कपड़े केवल इसलिए नहीं पहने होती कि वह पुरूषों में कामेच्छा को बढ़ाए किंतु इसलिए भी कि अच्छे कपड़े पहने होने पर उसका समाज में आदर होता है।

सामाजिक सीखने के सिद्धान्तः–

अल्बर्ट बाण्डुरा को प्रेक्षणात्मक अधिगम का प्रवर्तक माना जाता है। इस प्रकार के अधिगम में बालक सामाजिक व्यवहारों को अनुकरण द्वारा सीखता है अतः इसे सामाजिक अधिगम का सिद्धान्त भी कहा जाता है। बाण्डुरा का मत है कि बालक सामाजिक प्राणी होने के कारण समाज में किसी प्रतिमान (उवकमस) के व्यवहार को देखकर उसका अनुकरण करने का प्रयास करता है। विशिष्ट व्यवहार को देखकर तथा उसे दोहराकर वैसा ही व्यवहार करना सीख लेता है इसे मॉडलिंग की संज्ञा दी जाती है।

इस सिद्धान्त की व्याख्या बाण्डुरा, रॉस एवं रॉस (1963) ने एक लोकप्रिय प्रयोग द्वारा की है। इस प्रयोग में कुछ स्कूली बच्चों को वयस्क मनुष्य द्वारा 3 से 4 फीट की एक गुड़िया जिसे बॉब गुड़िया (ठवइ क्वसस) का नाम दिया गया, को उछालकर, मारकर एवं उसके प्रति आक्रामकता (हहतमेपवद) करते हुए दिखाया। जब उन बच्चों को गुड़िया के साथ अकेले छोड़ा गया तो देखा कि उन्होंने भी गुड़िया के प्रति वैसा ही आक्रामक व्यवहार किया। बाद के प्रयोगों में यह देखा गया कि जब बच्चों ने टेलीविजन पर ऐसे ही आक्रामक दृश्य देखे तो उनके आक्रामक व्यवहार में उन बच्चों की तुलना में वृद्धि होते पायी गयी जिन्होंने टेलीविजन पर ऐसे दृश्य नहीं देखे थे। बाण्डुरा (1986) द्वारा किये गये शोधों द्वारा यह स्पष्ट होता है कि प्रेक्षणात्मक सीखने की प्रक्रिया निम्न 4 प्रक्रियाओं द्वारा नियंत्रित होती है–

1- अवधान (Attention):– अवधान प्रेक्षणात्मक अधिगम की महत्वपूर्ण प्रक्रिया है। प्रेक्षक सममानिक मॉडल के व्यवहार को जितने ध्यान से देखता है। अधिगम उतना ही मजबूत होता है। मॉडल के व्यवहार का मात्र प्रत्यक्षीकरण कर लेने से यह निश्चित नहीं हो जाता कि प्रेक्षणत्मक अधिगम की प्रक्रिया संचालित होगी ही। प्रेक्षक का अपने मॉडल पर ध्यान केन्द्रित करना भी मॉडल की उम्र, लिंग, समाज में स्थिति आदि बातों पर निर्भर करता है। जब मॉडल और प्रेक्षक की उम्र और लिंग में समानता होती है तो प्रेक्षक मॉडल के व्यवहार का सफलतापूर्वक प्रेक्षण करता पाया जाता है।

2- धारण (Retention):– प्रेक्षणात्मक अधिगम की दूसरी महत्वपूर्ण प्रक्रिया धारण है। मॉडलिंग की प्रक्रिया में यह भी आवश्यक है कि प्रेक्षक केवल सामाजिक मॉडल पर ठीक–ठीक ध्यान देने के साथ उसे याद भी रखे अर्थात् वह मॉडल के सभी संगत व्यवहारों को मन ही मन दोहराये और समय आने पर ठीक वैसे ही व्यवहार की पुनरावृत्ति कर सके।

3- पुनरूत्पादन (Reproduction):– प्रेक्षणात्मक अधिगम की एक महत्वपूर्ण प्रक्रिया पुनरूत्पादन भी है। इससे तात्पर्य सांकेतिक अभिनय को व्यवहार में प्रदर्शित करने से होता है। प्रेक्षक पुनभ्यास (Rehearsal) द्वारा मॉडल के जटिल व्यवहारों को करना सीख लेता है। माना कोई व्यक्ति कम्प्यूटर चलाना सीख रहा है ऐसी स्थिति में प्रेक्षक मात्र मॉडल को मात्र कम्प्यूटर चलाते देखकर ही उसे नहीं सीख सकता जब तक कि वह कम्प्यूटर चलाने का वास्तविक अभ्यास नहीं करता।

4. अभिप्रेरणा (Motivation):– प्रेक्षणात्मक सीखने की प्रक्रिया में अभिप्रेरणा का महत्वपूर्ण योगदान है। प्रेक्षक मॉडल के व्यवहार को कितना भी ध्यान से देखे कितना ही धारण करके रखे लेकिन वह उस व्यवहार को तब तक ठीक ढंग से नहीं सीख पाता जब तक कि उसे उस व्यवहार को सीखने पर पर्याप्त पुनर्बलन नहीं मिलता। जब प्रेक्षक को संगत व्यवहार करने पर पर्याप्त पुनर्बलन मिलता है तो प्रेक्षक शीघ्रतापूर्वक उस व्यवहार को कार्य में परिणत कर लेता है।

5.7 सारांश

सीखना एक सतत् व्यापक और जीवनपर्यन्त चलने वाली प्रक्रिया है। एक बालक जो जन्म लेता है वह सीखता है और उसके सीखने में बहुत से सामाजिक कारक प्रभाव डालते है। समाजीकरण में व्यक्ति को प्रत्यक्ष रूप से समाज के कर्त्ता प्रशिक्षित करते है। व्यक्ति कजो कुछ भी समाज के प्रभाव के कारण तथा समाज के कर्त्ता द्वारा सीखता है वह सब सामाजिक सीखने के अंतर्गत आता है।

सीखने की प्रक्रिया विभिन्न प्रकार से संपादित होती है। यथा–निरीक्षण द्वारा, प्रयास एवं त्रुटि द्वारा, शास्त्रीय अनुबन्धन द्वारा, सूझ द्वारा, प्रतीकात्मक सीखना तथा अनुकरणात्मक सीखना आदि। मनोवैज्ञानिक कारक, शारीरिक कारक, भौतिक कारक तथा सामाजिक कारकों द्वारा सीखना प्रभावित होता है। सामाजिक सीखने की प्रक्रिया को अन्य महत्वपूर्ण कारक जैसे सुगमता का अवरोध, विभेदीकरण तथा सामान्यीकरण, पूर्व अपेक्षित प्रत्युत्तर एवं संघटन भी प्रभावित करते है।

प्रस्तुत इकाई में सीखने के मुख्य सिद्धांत प्रभाव का नियम, स्थानापन्न का नियम तथा पुरस्कार एवं दण्ड का नियम आदि का वर्णन किया गया है। साथ ही अल्बर्ट बाण्डुरा द्वारा प्रतिपादित प्रेक्षणात्मक सीखना जो सामाजिक सीखने का मुख्य सिद्धांत है की व्याख्या भी विस्तारपूर्वक की गयी है।

5.8 शब्दावली

- **सीखना–** एक सामाजिक प्रक्रिया है। यह जन्म से प्रारम्भ होती है और जीवन पर्यन्त चलती रहती है। सीखना उचित प्रत्युत्तरों को प्राप्त करने की प्रक्रिया है। सीखना अनुभवों के आधार पर व्यवहार में रूपांतरण करना है।
- **अन्तर्नोद–** अन्तर्नोद हमारी जैविक आवश्यकताओं से उत्पन्न होते है और सीखने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते है।
- **संकेत–** यह इस बात का निर्धारण करते है कि एक व्यक्ति कब, कहाँ और क्या प्रत्युत्तर देगा ? अंतर्नोद तथा संकेत दोनों का आधार उद्दीपकों में मिलता है।
- **पुनर्बलन–** जब किसी स्थिति में एक प्रतिक्रिया अधिक शक्तिशाली हो जाती है और बार–बार दोहरायी जाती है तब हम इस पुनर्बलन कहते है। प्रतिक्रियाओं के पुनर्बलन द्वारा ही हम सीखते है।

5.9 स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न

रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिएः–

1. अनुभव द्वारा व्यवहार में रूपांतर करना ही ..... है।
2. सीखने के सिद्धान्त में प्रभाव का नियम ..... द्वारा प्रतिपादित किया गया।
3. सीखने की प्रक्रिया में ..... तथा ..... पुनर्बलन का महत्वपूर्ण योगदान है।
4. अनुकरणात्मक सीखना (मॉडलिंग) सिद्धांत के प्रतिपादक ..... है।

प्रश्नों के उत्तर

1. सीखना 2. थॉनडाइक 3. धनात्मक, ऋणात्मक 4. अल्बर्ट बाण्डुरा

5.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1. समाजिक सीखने का क्या अर्थ है ? क्या सीखना एक सामाजिक प्रक्रिया है?
2. सामाजिक सीखने की प्रक्रिया को प्रभावित करने वाले कारकों का वर्णन कीजिए।
3. सीखने के मूलभूत सिद्धान्तों का विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिए।
4. मॉडल के अनुकरण से आप क्या समझते है ? समाजिक सीखने में इनका क्या महत्व है ?

5.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- समाज मनोविज्ञान– डॉ0 एस0एस0 माथुर, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा
- उच्चतर सामान्य मनोविज्ञान– डॉ0 अरूण कुमार सिंह, मोतीलाल बनारसीदास
- आधुनिक समाज मनोविज्ञान– डॉ0 डी0 एन0 श्रीवास्तव, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा
- Systematic Social Psychology- Willium S.Sahakian, Chandler Publishing Company, New York.

इकाई 6
नेतृत्व की समप्रत्यय, प्रकार व विशेषतायें

6.0 उद्देश्य

6.1 प्रस्तावना

6.2 नेतृत्व की संकल्पना

6.3 नेतृत्व के सामान्य गुण

6.3.1 बुद्धि

6.3.2 शारीरिक गठन

6.3.3 शब्दाडंबर

6.3.4 प्रभुता व आत्मसंस्थापन

6.3.5 आत्मविश्वास

6.3.6 बहिर्मुखता

6.3.7 समायोजन

6.3.8 परिश्रमी

6.3.9 कल्पना व दूरदर्शिता

6.3.10 चमत्कार

6.3.11 इच्छाशक्ति

6.4 नेता के प्रकार

6.4.1 बोगार्डस के अनुसार नेतृत्व के प्रकार

6.4.2 किम्बल यंग के अनुसार नेतृत्व के प्रकार

6.4.3 लिपिट एवं व्हाइट के अनुसार नेतृत्व के प्रकार

6.5 अध्ययन सारांश

6.6 कुंजी शब्द

6.7 आगे अध्ययन_के लिये

6.8 प्रतिदर्श जवाब आपकी प्रगति की जांच करने के लिए

6.0 उद्देश्य

जब आप यह अध्याय पूर्ण करेगें तब तक आप यह जान चुके होगें कि–

- नेतृत्व किसे कहते हैं व इससे सम्बन्धित अनेको मनोवैज्ञानिकों के विभिन्न परिभाषाओं का मूल्यांकन कर चुके होगें उसके अर्न्तनिहित अवयवों को समझ चुके होगें।
- आप यह जान चुके होगें कि नेतृत्व के सामान्य शीलगुण क्या हैं एव विभिन्न शीलगुणों से युक्त नेता का व्यवहार कैसा होगा।
- कुछ प्रमुख समाज मनौवैज्ञानिकों के अनुसार नेतृत्व के प्रकारों को समझने का प्रयास करेगें एवं यह सुनिश्चित करेगें कि एक विशेष अंदाज का नेतृत्व करने के लिये कौन–कौन से शलिगुणो का क्रम या सेट अवश्यंभावी होगा।

6.1 प्रस्तावना :

इकाई 1 में हमने अधिगम के एक व्यवहारिक पक्ष सामाजिक अधिगम के विषय को समझा। विभिन्न मनोवैज्ञानिक द्वारा इस समप्रत्यय के अन्तर्गत अवयवों को समझने की कोशिशि की गयी थी। इकाई–2 में नेतृत्व के सम्प्रत्यय को समझाने का प्रयास किया गया एवं नेतृत्व के अर्न्तनिहित शीलगुणों पर प्रकाश डाला गया है। भाग–2.1 में प्रस्तावना उल्लिखित है। भाग 2.2 में नेतृत्व के सम्प्रत्यय को समझाया गया है। भाग 2.3 में नेतृत्व के सामान्य गुणों के विषय में बताया गया है। भाग 2.3.1 बुद्धि का नेतृत्व में भूमिका को समझाता है। 3.3.2. शारीरिक गठन के विषय में बताता है। इसी प्रकार शब्दाडम्बर अधिक होने पर नेता बनने की योग्यता बढ़ जाती है इस भाग को 2.3.3 में बताया गया है। 2.3.4 भाग प्रभुता व आत्मसंस्थापन का नेतृत्व में महत्व का विषय में उल्लेखित करता है। जबकि भाग 2.3.5 में आत्मविश्वास को समझाया गया है भाग 2.3.6 व 2.3.7 में क्रमशः बर्हिमुखता व समायोजन शीलगुण का नेतृत्व में उपयोगिता बर्हिमुखता व समायोजन शीलगुण का नेतृत्व में उपयोगिता को लेकर व्याख्या किया गया है। एक नेता के लिये परिश्रम का क्या महत्व है इस तथ्य को 2.3.8 मे बताया गया है 2.3.9 कल्पना व दूददर्शिता को समझाता है 2.3.10 में चमत्कार शीलगुण को नेतृत्व के परिप्रेक्ष्य में समझाया गया है। 2.3.11 अनुभाग में नेतृत्व के लिये इच्छाशक्ति की महत्ता को समाझाया गया है। 2.4 भाग में प्रमुख समाज मनोवैज्ञानिकों द्वारा नेतृत्व के प्रकार की व्याख्या की गयी है।

6.2 नेतृत्व की संकल्पना

नेतृत्व एक विश्वव्यापी प्रक्रिया है। ये विश्व के लगभग सभी समाजों में पायी जाती है। सही अर्थों में समझे तो एक व्यक्ति जो समूह लक्ष्यों व समूह की भलाई के लिये अग्रसर होता है अर्थात् सामूहिक कार्य को आरम्भ करता है, समूह के अन्य लोगों को निर्देशित करता है, आवश्यकतानुसार निर्णय लेता है, सभी के

लिये प्रतिमान स्थापित करता है तथा समूह के अन्य सदस्य अनुयायी के रूप में उसकी बातों का अनुसरण करते हैं। परन्तु मात्र इतने से ही नेतृत्व की सही व्याख्या नहीं की जा सकती है।

समाज मनोवैज्ञानिकों ने इसकी व्याख्या करने के लिये निम्न परिभाषायें दी हैं।

लापीयर तथा फ्रेन्सबर्थ (1949) के अनुसार– नेतृत्व वह व्यवहार है जो अन्य व्यक्तियों के व्यवहारों को उनसे कहीं अधिक प्रभावित करता है।

किम्बाल एवं यंग (1960) के अनुसार नेतृत्व एक महत्वपूर्ण प्रतिष्ठित पद है जो दूसरे के व्यवहार को नियन्त्रित करने का मार्ग दिखाने अथवा व्यवहार का आदर्श निश्चित करने की योग्यता द्वारा अर्जित किया जाता है।

हालैण्डर (1989)–'' सामाजिक मनोवैज्ञानिकों के लिये नेतृत्व अध्ययन एक रूचिकर विषय रहा है। नेतृत्व की अनेकों परिभाषायें दी गयी हैं। सभी परिभाषाओं में न्यूनाधिक मात्रा में एक बात पर बल दिया गया है। नेतृत्व सामूहिक, संगठनात्मक अथवा सामाजिक उद्देश्यों एवं लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिये नेता और अनुसरण कर्ताओं के सामाजिक प्रभाव का एक प्रक्रम है।

यदि हम परिभाषाओं का विश्लेषण करें तो हम पायेंगे कि इन परिभाषाओं में काफी समानता है। नेतृत्व निःसन्देह एक महत्वपूर्ण बिमा है तथा इसके दो महत्वपूर्ण पक्ष होते हैं– एक नेता जो नेतृत्व करता है तथा दूसरा अनुयायी जो नेतृत्व को स्वीकार करते हैं। यदि हम नेतृत्व का गहन विश्लेषण करें तो हम पायेंगे कि नेतृत्व को नेता एवं उनके अनुयायीजनों के सन्दर्भ में समझा जा सकता है। नेता एवं उसके अनुयायियों के बीच का सम्बन्ध एक तरफा न होकर दो तरफा होता है अर्थात् नेता के कथन व व्यवहारों का अनुयायियों पर अधिक प्रभाव पड़ता है अनुयायियों के कथन व व्यवहार का प्रभाव नेता पर कम पड़ता है।

स्थायी नेतृत्व अनुयायियों के सहयोग व सद्भावना पर निर्भर करता है अर्थात् नेता यदि एक सफल एवं प्रभावी नेतृत्व देना चाहता है, तो यह आवश्यक है कि वह अपने अनुयायियों, के विचारों भावनाओं, संवंगों क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं के साथ समतुल्यता व संयोजन स्थापित करें।

प्रायः देखा गया है कि नेता कई बार तो अपने अनुयायियों को प्रभावित करना चाहते हैं परन्तु अनुयायियों के व्यवहार से कम ही प्रभावित होते हैं। ऐसी परिस्थिति में नेता निरंकुश प्रभुत्व पाने का प्रयास करने लगता है, इसी कारण वह अधिक दिनों तक नेता नहीं बने रह पाता व उसका नेतृत्व जल्द ही समाप्त हो जाता है।

एक नेता को अपने को प्रभावी व अपने नेतृत्व की स्थायी बनाने के लिये यह आवश्यक है कि अपने समूह सदस्यों की प्रतिक्रियाओं को समझे व उसके अनुसार एक सीमा तक व्यवहार करने की कोशिश करें।

नेता के संकल्पना को समझने के लिये नेता और औपचारिक अध्यक्ष में अन्तर समझना अति आवश्यक है। नेता और औपचारिक अध्यक्ष में यह प्रमुख अन्तर है कि औपचारिक अध्यक्ष को अपने पद के कारण प्रभाव दिखलाने का अधिकार मिल जाता है व पद से हटते ही वे अधिकार समाप्त हो जाते हैं परन्तु नेता को अपने अनुयायियों द्वारा स्वतः ही प्रभाव दिखलाने का अधिकार मिल जाता है जैसे–कुलपति जब तक अपने पद पर रहता है तब तक उसका प्रभाव कुलपति, विश्वविद्यालय के शिक्षकों कर्मचारियों एवं छात्रों पर रहता है परन्तु अपने पद से हटते ही उसका प्रभाव हमेशा के लिए कम हो जाता है। अतः यह कहा जा सकता है कि सभी औपचारिक अध्यक्ष वास्तविक नेता नहीं होते हैं। कई बार समूह औपचारिक अध्यक्ष को अच्छा नेता समझकर अनुसरण करने लगते हैं। अतः हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि नेता अनुयायी

दोनों को एक दूसरे को पर्याप्त प्रभावित कर सकते हैं परन्तु नेता का प्रभाव अनुयायियों पर काफी अधिक पड़ता है।

6.3 नेतृत्व के सामान्य गुणः–

नेतृत्व के कुछ शीलगुण होते हैं परन्तु उनमें एक रूपता नहीं पायी जाती है। भिन्न–भिन्न परिस्थितियों में नेता को भिन्न–भिन्न समस्याओं से निपटना पड़ता है। अतः कुछ परिस्थितियों में किन्हीं विशेष तरह के शीलगुणों की आवश्यकता होती है किन्हीं में नहीं। नेतृत्व के अन्तः क्रियात्मक उपागम से यह पता चलता है कि नेतृत्व. तीनों पक्ष अर्थात् नेता, परिस्थिति व अनुयायी की आपसी अन्तः क्रिया प्रक्रिया पर निर्भर करता है। विभिन्न परिस्थितियों में विभिन्न प्रकार के नेतृत्व की आवश्यकता पड़ती है तथापि नेता समूह की सबसे महत्वपूर्ण स्थिति तथा केन्द्रीय भूमिकाओं को अंगीकृत करने में अन्य लोगों की अपेक्षा अधिक क्रियाशील व तत्पर हैं।

नेतृत्व के लिये कुछ प्रमुख गुणों का होना अति आवश्यक है। आलपोर्ट के अनुसार नेतृत्व के 18 गुण होते हैं। बनार्ड, बोगार्ड व टीड ने भी कुछ प्रमुख गुणों का उल्लेख किया है समाज मनोवैज्ञानिकों ने गहन विश्लेषण के पश्चात् कुछ प्रमुख शीलगुणों को आवश्यक बताया है। जिसमें निम्नांकित प्रमुख हैं।

6.3.1 बुद्धि :–समाज मनोवैज्ञानिकों के अनुसार नेता सामान्यतः अपने अनुयायियों से अधिक बुद्धि का होता है स्टागडिल (1948) के प्रयोग में उन्होंने पाया कि भिन्न–भिन्न समूहों में समूह के नेता अपने अनुयायियों की अपेक्षा अधिक बुद्धि के थे। लिंडग्रेन (1973) ने नेतृत्व व बुद्धि में घनात्मक सहसम्बन्ध पाया।

परन्तु यह बात बहुत ही महत्वपूर्ण है कि नेता और अनुयायियों में बुद्धि का बहुत अन्तर नहीं होना चाहिये।

6.3.2 शारीरिक गठन– किसी भी समूह के नेता आसानी से प्रत्यक्षित कर लिये जाते है यह इस बात की ओर इशारा करता है कि विभिन्न समूहों के नेताओं में कुछ तो सामान्य होता ही है। स्टागडिल के अनुसार नेता अपने अनुयायियों को अपेक्षा लम्बे होते हैं काल्टवेल (1953) ने भी अपने अध्ययन से यह स्पष्ट किया कि नेता के चार प्रमुख शारीरिक गुण होते हैं–ऊँचाई, वजन, स्फूर्ति एवं अच्छा स्वास्थ्य। नेता की ऊँचाई औसत से अधिक होती है परन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि छोटे कद के नेता नहीं होते हैं श्री लाल बहादुर शास्त्री इसके प्रमुख उदाहरण है। ऊँचाई ओर वजन का घनात्मक रिश्ता है। प्रायः यह देखा गया है कि नेता अधिक वजन वाले होते हैं।

यदि स्फूर्ति व स्वास्थ्य को परखा जाय तो इस स्टागडिल (1966) ने अपने अध्ययन में पाया कि प्रायः नेता का स्वास्थ्य आम व्यक्तियों की अपेक्षा अच्छा होता है तथा उनमें स्फूर्ति भी अधिक होती है।

6.3.3 शब्दाडम्बर :– शब्दाडम्बर नेता के लिये परमआवश्यक व प्रमुख शीलगुणों में से एक है। शब्दाडम्बर से तात्पर्य ज्यादा बोलने की आदत से होता है। सारेन्टीनों तथा बुटिलियर (1975) ने अपने अध्ययन में पाया कि समूह का जो व्यक्ति अधिक बोलता है उसके नेता बनने की सम्भावना भी अधिक होती है। मैकग्रेथ व जुलियन (1968) ने अपने–अपने अध्ययन में इस बात की पुष्टि की है कि समूह के सबसे अधिक बोलने वाले सदस्य को नेता के रूप में देखा जाता है।

6.3.4 प्रभुता व आत्मसंस्थापनः– नेता के लिये प्रभुता या प्रभुत्व बनाये रखने की क्षमता एक आवश्यक गुण होता है। किम्बाल यंग (1957) के अनुसार प्रभुत्व एक ऐसी अनुक्रिया है जो दूसरों की मनोवृत्ति एवं क्रियाओं को प्रभावित करता है यह एक शक्ति साधन है जिसका उपयोग एक व्यक्तियों द्वारा दूसरे व्यक्ति की मनोवृत्ति एवं क्रियाओं को नियन्त्रित या परिवर्तित करने के लिए की जाती है।

नेतृत्व व प्रभुत्व में घनात्मक सहसंबंध होता है। माइनर (1968) ने अपने अध्ययन अनुसार बताया कि नेता के लिये प्रभुता तथा आत्मसंस्थापन का गुण अति आवश्यक है।

6.3.5 आत्मविश्वास– नेता के सभी शीलगुणों के बीच इस शीलगुण की अपनी अलग महत्ता है। आत्म विश्वास से तात्पर्य है कि खद में विश्वास अर्थात अपने निर्णयों व अपने आचरण पर विश्वास।
यदि नेता में ही आत्म विश्वास की कमी होगी तो अनुयायियों का भी विश्वास नेता पर से उठ जायेगा और उसका नेतृत्व समाप्त हो जायेगा। अतः एक निश्चित मात्रा में इस गुण का होना परमआवश्यक है। ब्राउन (1964) और हैरेल (1969) के अध्ययनों के अनुसार सफल नेतृत्व के लिये नेता में आत्म विश्वास का होना अत्यन्त आवश्यक है।

6.3.6 बर्हिमुखताः– अधिकतर नेतृत्व में यह देखा गया है कि उनमें बर्हिमुखता का गुण पाया जाता है। अन्तर्मुखी व्यक्ति की अपेक्षा बर्हमुखी व्यक्ति के नेता होने की संभावना अधिक होती है। बहिर्मुखी व्यक्ति दोनों लोगों से अधिक मिलता जुलता है एवं लोगों को संगठित करता है।

6.3.7 समायोजन– नेता में सामंजस्यता का गुण अवश्यभावी है। समूह का नेतृत्व करने के दौरान एक नेता को भांति–भांति की कठिन परिस्थितियों से जुझना पड़ता है और ऐसी परिस्थिति में समायोजन का गुण उनकी मदद करता है। नेता के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है। कि उसमें संवेगात्मक स्थिरता का गुण हो ताकि वह अपने संवेगों पर नियन्त्रण रख सके व अपने व्यवहारों व विचारों में लचीलापन ले आ पाए। फिजिसिमोन्स तथा मारकुस (1961) द्वारा किये गये एक अध्ययन में 50 नेता तथा 50 अनुयायियों का समायोजन स्तर 12 प्रकार के वाक्य पूर्ति परीक्षण द्वारा मापा गया। परिणाम में देखा गया कि 12 में से 11 क्षेत्रों में समूह के नेता अपने अनुयायियों से ज्यादा समाायोजित थे।

6.3.8 परिश्रमीः– नेता का परिश्रमी होना अत्यन्त आवश्यक है। क्योंकि जब नेता आलस में आता है तो उससे समूह लक्ष्य प्राप्ति के कई मौके छूट जाते हैं। और समूह के अनुयायियों के साथ भी पारस्परिक्ता में कमी आती है। जिससे समूह या तो टूटने लगता है अथवा समूह सदस्यों द्वारा नेतृत्व परिवर्तन कर दिया जाता है। जब कोई व्यक्ति परिश्रम नहीं कर पायेगा तो इसका स्पष्ट मतलब है कि वह सफल नेता नहीं बन सकता। इतिहास इस बात का गवाह है कि कभी कोई आलसी व्यक्ति लम्बे समय तक नेतृत्व नहीं संभाल सका। बल्कि साधनहीन व गरीब परिवार में जन्म लेने वाले व्यक्ति भी अपने परिश्रम की वजह से आगे चलकर एक प्रमुख नेता बने हैं।

6.3.9 कल्पना व दूरदर्शिताः– समाज मनोवैज्ञानिकों ने प्रभावी नेता के लिये उत्कृष्ट कल्पनाशील व एवं उच्चकोटि की दूरदर्शिता को अवश्यभावी गुण माना है। इस तरह की शक्ति के आधार पर नेता आगे आने वाली समस्याओं का अन्दाज लगा लेता है और फिर इस प्रकार अपने व्यवहारों व विचारों में परिवर्तन लाता

है कि लक्ष्य–उपलब्धि के संबंध में किसी प्रकार की कठिनाई का अनुभव न हो। साथ ही साथ दूरदर्शिता का गुण होने से नेता को अपने अनुयायियों के प्रतिक्रियाओं को समझने में तथा समूह के बारे में पूर्व कथन करने में उसे काफी मदद मिलती है। लिण्डग्रेन 1973 ने अध्ययनों की समीक्षा करके यह बतलाया है कि अधिकतर मनोवैज्ञानिकों ने नेतृत्व के लिये अच्छी कल्पना शक्ति एवं उच्च कोटि की दूरदर्शिता को परम आवश्यक शीलगुण बतलाया है।

6.3.10 चमत्कारः– कुछ नेताओं के व्यक्तित्व में एक विशेष प्रकार का चुम्बकीय आर्कषण पाया जाता है जो उनके अनुयायियों को उनके तरफ चमत्कारीक रूप से खींचता है। इस प्रकार का गुण संसार के कुछ प्रमुख नेताओं में पाया गया है। जैसे – जॉन एफ केनेडी, मार्टीन लूथर किंग, एडाल्फ हिटलर, महात्मा गांधी।

वेबर (1958) के अनुसार यह एक प्रकार का अलौकिक गुण होता है। ये नेता संकटकालीन परिस्थिति में कुछ इस ढंग से कार्य करते हैं कि आम आदमी कुछ समझ नहीं पाते हैं। परन्तु सभी लोग ही इनसे प्रभावित हो ये जरूरी नहीं जैसे महात्मा गांधी के व्यक्तित्व में एक अलग आभा थी परन्तु फिर भी उनके आलोचकों की संख्या भी कम न थी।

6.3.11 इच्छा शक्ति नेता को अनेकानेक परिस्थितियों होकर गुजरना पड़ता है। अतः ऐसी परिस्थिति में उनके द्वारा लिया गया निर्णय से समूचा समूह प्रभावित होता है तो ऐसी कठिन परिस्थितियों में संकल्पच्युत होना नेता का एक महान गुण समझा जाता है। कठिन परिस्थिति में जो नेता जितनी अधिक संकल्पशक्ति दिखाता है उसकी प्रतिष्ठा अनुयायियों के नजर में उतनी ही होती है।

उपर्युक्त शीलगुणों के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि अधिकतर नेताओं में कुछ सामान्य शीलगुणा का सेट होता है –आजकल मनोवैज्ञानिकों ने यह सिद्ध कर दिया है कि नेताओं में सामान्य गुणों का या नेतृत्व गुण सेट का होना अनिवार्य नहीं है। सचमुच में नेतृत्व शारीरिक गुणों के सेट के अलावा काफी कुछ मिलता है।

अपनी प्रगति जांचें 1

1– नेतृत्व सम्प्रत्यय का विश्लेषण करें व इनके महत्वपूर्ण पक्षों पर प्रकाश डाले?

.....

.....

.....

2– एक नेता को अपने नेतृत्व को स्थायी व प्रभावी बनाने के लिये किन–किन बिन्दुओं पर ध्यान देना चाहिये?

.....

.....

.....

3– नेतृत्व के सामान्य शीलगुण से क्या समझते हो?

.....

.....

.....

4– एक नेता के अन्दर कौन–कौन से शीलगुणों का होना अवश्यभावी है?

.....

.....

.....

6.4 नेता के प्रकार

नेतृत्व प्रकार या नेतृत्व शैली से नेता के दृष्टिकोण के विषय में ज्ञात होता है साथ ही साथ समूह के सदस्यों के साथ उसके सम्बन्धों का बोध होता है। नेतृत्व शैली से यह भी ज्ञात होता है कि वह समूह लक्ष्य को कैसे निर्धारित करता है किस विधि के द्वारा उसे प्राप्त करता है। अतः जैसे–जैसे समूह भिन्न होगा, उसके अनुयायी भी भिन्न होंगे उसके लक्ष्य भी भिन्न होंगे व उन लक्ष्यों को प्राप्त करने की विधि भी भिन्न होगी। इसी भिन्नता को समझने के लिये समाज मनोवैज्ञानिकों ने नेता के कई प्रकारों का वर्णन किया है। सभी की विस्तृत व्याख्या यहाँ सम्भव नहीं हैं किन्तु प्रमुख मनोवैज्ञानिकों द्वारा बताया गया निम्नलिखित हैः–

6.4.1 (क) बोगार्डस (1940) ने नेतृत्व के पाँच
प्रकार उल्लेख किया है जो निम्न प्रकार है–

1. **प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष नेतृत्व–** यहाँ प्रत्यक्ष नेतृत्व से मतलब अपने अनुयायियों के साथ सीधे सम्पर्क से है। प्रत्यक्ष नेतृत्व में नेता अपने अनुयायियों से प्रत्यक्ष बातचीत करता है, उनकी समस्याओं को सुनता है, उनके समाधान के विषय में सीधे अपना सुझाव प्रत्यक्ष पेश करता है, उनकी सलाह भी सुनता है। निश्चित रूप से यहाँ नेता उत्तरोत्तर प्रभावी होता जाता है।

अप्रत्यक्ष नेतृत्व में नेता अपने समूह के सदस्यों या अनुयायियों को सीधे तौर पर प्रभावित नहीं करता है बल्कि विचारों के द्वारा उन पर नियन्त्रण करता है जैसे–वैज्ञानिक, लेखक व दार्शनिक इत्यादि अप्रत्यक्ष रूप से अपने अनुयायियों को प्रभावित करते हैं।

2. **सपक्षीय व वैज्ञानिक नेतृत्वः**– सपक्षीय नेतृत्व में नेता हमेशा अपने समूह के सम्मानजनक व प्रशंसनीय पहलुओं की चर्चा दूसरे समूहों के सामने करता है अर्थात बुरे व निन्दनीय पहलुओं को दूसरों के सामने छिपा ले जाता है। इस प्रकार वह यही प्रयत्न करता है कि उसका समूह अन्य समूहों की तुलना में सबसे अच्छा समझा जाय। आज कल के राजनीतिक नेता प्रायः सपक्षीय होते हैं क्योंकि वे आम जनता के सामने पार्टी के गुणों को दर्शाते हैं।

वैज्ञानिक नेतृत्व में प्रायः इसके विपरीत प्रक्रिया पायी जाती है। वैज्ञानिक नेतृत्व में नेता सत्य व न्यायप्रियता को ज्यादा महत्व देता है तथा अन्य समूहों के सामने वह अपने समूह के अच्छाई व बुराई दोनों पक्षों की चर्चा करते हैं सत्य की खोज में वे अच्छे व बुरे दोनों ही प्रकार के तथ्यों पर प्रकाश डालते हैं।

3. **सामाजिक कार्यकारिणी एवं मानसिक नेतृत्वः**– सामाजिक नेतृत्व में नेता अपने समूह के लिये सामाजिक एवं सार्वजनिक कार्य करता है। इस तरह के नेतृत्व में अनुयायी अपने नेता से सीधे जुड़े होते हैं। और सभी प्रकार की समस्याओं पर वार्ता एक खुले वातावरण में होती है। अतः हम कह सकते हैं कि इस प्रकार के नेता में समाज सेवी गुणों की प्रधानता होती है।

मानसिक नेतृत्व जैसा कि नाम से स्पष्ट है इसमें नेता अपने अनुयायियों व समूह सदस्यों पर विचारों के द्वारा प्रभाव डालता है। ऐसा काम करने के लिये शान्तिपूर्ण व एकाकी स्थान चाहिये। जिससे वह लोगों को अपनी बात मनवाने में उत्प्रेरित कर सके।

कार्यकारिणी नेतृत्व में नेता में सामाजिक व मानसिक दोनों तरह के गुणों व समावेश पाया जाता है। ऐसे नेता में एक अच्छे समाज सेवी का तो गुण होता है साथ ही साथ उसमें अच्छे विचारों को भी प्रस्तुत करने की क्षमता होती है।

4 सत्ताधारी एवं करिश्माई नेतृत्वः–

सत्ताधारी नेतृत्व में नेता अपने समूह का सब कुछ होता है। ऐसे नेता को निरपेक्ष अधिकार अधिक होता है। वह स्वयं ही सभी नीति व योजनाओं को बनाता है और उन्हें क्रियान्वित करता है। यह इच्छा पर निर्भर करता है कि वो कब और किसे दण्ड दे या पुरस्कार दे। इसके लिये किसी के सामने न तो उत्तरदायी होता है और न ही उससे कोई इस बात का औचित्य ही पूछ सकता है। ऐसे नेता को अपने सदस्यों की भलाई की चिन्ता कम ही होती है वह अपने और अपने परिवार की भलाई के विषय में ज्यादा सोचता है।

करिश्माई नेता का नेतृत्व कुछ करिश्मों तथा चमत्कारी कार्यों पर निर्भर करता है। ऐसे व्यक्तियों में कुछ अद्वितीय एवं असाधारण गुण पाये जाते हैं। ऐसे नेताओं की वास्तविक शक्ति (जो उनके अनुयायियों का उनमें विश्वास से बनती है एवं कल्पना शक्ति अधिक होती है। जादूगर, धार्मिक नेता पैगम्बर इत्यादि इसी श्रेणी के नेता होते हैं। ऐसे नेता का नेतृत्व तब तक चलता है जब तक उसमें चमत्कार करने की शक्ति है।

5 पैतृक एवं प्रजातन्त्रात्मक नेतृत्वः–

पैतृक नेतृत्व में नेता अपने अनुयायियों के लिये पिता होता है। अनुयायियों के मन में इस तरह के नेता के प्रति अधिक श्रद्धा एवं आदर का भाव होता है और ऐसे नेता भी एक पिता के समान अपने अनुयायियों के उचित, अनुचित का ख्याल करता है।

प्रजातन्त्रात्मक नेतृत्व सत्ताधारी नेता के ठीक विपरित होता है। इस तरह के नेता समूह के सभी सदस्यों के साथ ही विचार–विमर्श कर ही किसी नीति एवं योजना का निर्माण करता है। इस तरह के नेता व सदस्यों के बीच प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है। इस प्रकार के नेता सदस्यों के सुख सुविधाओं एवं भावनाओं की काफी कद्र करते हैं।

मालिक एक ऐसा नेता होता है जो या तो अपने पद की वजह से लोगों का ध्यान अपनी तरफ खींच लेता है या अपनी चतुराई व वाक्पटुता के कारण दूसरे व्यक्तियों का ध्यान खींचता है। ऐसे नेताओं में चतुराई व वाक्पटुता का गुण अधिक होता है।

6.4.2 (ख) किम्बल यंग का वर्गीकरणः– इसे निम्नांकित 6 भागों में बाँटा गया है।

राजनैतिक नेता:– इस प्रकार के नेता राजनैतिक पार्टी से चुनाव के संघर्ष के दौरान उत्पन्न होते हैं। ऐसे नेता लोगों का विरोध करने पर भी अपने नेतृत्व को बचाने में लगे रहते हैं ये बेहद ही वाक्पटु व चतुर होते हैं। ऐसे नेता अपने दल को ठीक ढंग से रखने की कोशिश में लगे रहते हैं ताकि दल का काम सुचारू रूप से चल सके क्योंकि दल टूटने का बेहद ही नाकारात्मक प्रभाव उन पर पड़ेगा।

2. **प्रजातन्त्रात्मक नेता**:– इस तरह के नेता समूह के साथ विचार विमर्श करते हुये, समूह के मतों को आदर करते हुए किसी नीति व योजना का निर्धारण करता है। यह किसी तरह का भी निर्णय मिल–जुल कर करता है न कि अपने द्वारा लिये गये निर्णय को जबरदस्ती किसी पर थोपना।

3. **सुधारक नेता**:– सुधारक नेता एक आदर्शवादी नेता होता है जो समाज की बुराईयों को खत्म करने का बीड़ा उठाता है। भले ही इसके लिये उसे कितना ही दुःख क्यों न हो। ऐसे नेता प्रायः समाज के नियमों से इतर अपना सैद्धान्तिक नियम बनाकर चलते हैं। महात्मा गांधी, राजा राम मोहन राय की गणना इस प्रकार के नेताओं से की जा सकती है।

4. **नौकर शाही**:– इस प्रकार का नेता प्रशासन से सम्बंधित होता है तथा नियम व कानून पर सख्ती से अमल करता है। ऐसे नेता सरकारी विभागों का काम काफी कुशलता से करते हैं। वे किसी समस्या पर निर्णय स्वयं न लेकर अपने उच्चाधिकारियों पर छोड़ देते हैं।

5. **कूटनीतिज्ञ**:– इस प्रकार के नेता सरकार के प्रतिनिधि के रूप में दूसरे देशों में काम करते हैं। कूटनीतिज्ञ हमेशा अपनी सरकार के बनाये हुये नियमों व कूननों के अनुसार ही काम करता है। वह अपने सरकार के उद्देश्यों की पूर्ति के लिये काफी चतुराई एवं कुशलता से कार्यों को करता है।

6. **सिद्धान्तवादी**:– सिद्धान्तवादी नेता के विचारों का सम्बन्ध मात्र सिद्धान्तों से होता है अतः यह स्वाभाविक है कि उसके विचारों एवं व्यवहारों में व्यवहारिकता कम हो। पुष्टि के लिये तर्क का सहारा लेता है।

6.4.3 (ग) लिपिट एवं व्हाइट का वर्गीकरण:– लिपिट एवं हाईट (1939) ने नेतृत्व के तीन प्रकार बताये हैं।

1. **सत्ताधारी नेतृत्व**:–सत्तावादी नेता अपने समूह में निरपेक्ष प्रभाव रखता है वह स्वयं ही नीतियों का निर्माण करता है समूह की योजनाएँ तैयार करता है अपने द्वारा निर्धारित लक्ष्य को वह स्वयं जानता है। स्वयं ही वह सदस्यों के क्रियाओं का नीति निर्धारित करता है उन पर नजर बनाये रखता है। स्वयं ही दण्ड निर्धारित करता है व पुरस्कार भी स्वयं निर्धारण करता है। यह समूह सदस्यों के आपसी सम्बन्धों को बनाने से रोकता है और इस तरह की व्यवस्था रखता है कि कोई भी संदेश उससे होते हुये ही अगले चरण तक पहुँचे। वह समूह के केन्द्र में रहना चाहता है (अरूण कुमार सिंह, 2006)

इस प्रकार के नेता को अपने सदस्यों के कल्याण की चिन्ता कम होती है वह केवल अपने सदस्यों से काम लेना जानते हैं। फलतः समूह के सदस्यों का मनोबल काफी कम होता है और समूह धीरे–धीरे टूटने लगता है।

2. **प्रजातन्त्रात्मक नेतृत्व**:–

इस प्रकार के नेता सत्तावादी नेता के ठीक विपरीत होते हैं। इन्हें अपने समूह के सदस्यों के कल्याण की चिन्ता अधिक होती है। ये समूह लक्ष्यों के प्राप्ति के लिये बनने वाले नीतियों व योजनाओं में अपने समूह सदस्यों की भागीदारी सुनिश्चित करते हैं। इस प्रकार के नेता समूह के सभी कार्यों को समूह सदस्यों में बॉट देते हैं। इस तरह के नेतृत्व में अधिकार व सत्ता का विकेन्द्रीकरण होता है। ऐसे नेतृत्व में समूह के सदस्यों का मनोबल ऊँचा होता है। (अरूण कुमार सिंह, 2006)। नेता के अनुपस्थिति में भी यह समूह टूटता नहीं है।

3. **अहस्तक्षेपी नेतृत्वः**– इस तरह के नेतृत्व में नेता अपने समूह के सदस्यों पर नाम मात्र का नियन्त्रण रखता है। अर्थात नेता न तो अपने समूह को मार्गदर्शन देता है न ही अपनी तरफ से कोई निर्देश जारी करता है। इसमें सदस्यगणों को पूरी स्वतंत्रता होती है। समूह सदस्य यह स्वयं से निर्णय ले सकते हैं उन्हें कौन कार्य करना और कौन सा नहीं करना है।

खेर (1985) के अनुसार '' समाज मनोविज्ञान में अहस्तक्षेपी नेतृत्व उस तरह के नेतृत्व तंत्र को कहा जाता है जो न्यूनतम नियन्त्रण के साथ कार्य करता है। वास्तविक अहस्तक्षेपी तंत्र में नेता द्वारा किसी ढंग का नियन्त्रण नहीं किया जाता है यहाँ तक कि किसी प्रकार की सहायता या मार्गदर्शन भी नहीं किया जाता है।''

उपरोक्त वर्णन से यह स्पष्ट हो गया है कि समाज मनोविज्ञान में नेतृत्व के दो प्रकार अधिक लोकप्रिय है। सत्तावादी नेता तथा प्रजातन्त्रात्मक नेता। इनमें से भी प्रजातान्त्रिक नेतृत्व ही आज दुनिया के अधिक्तर देशों में देखने को मिलता है।

अपनी प्रगति जांचें 2

1– नेतृत्व के प्रकार से आप क्या समझते हैं?

.....

.....

.....

2– बोगार्डस के अनुसार नेतृत्व के प्रकारों का उल्लेख करें?

.....

.....

3– किम्बल यंग के अनुसार वर्गीकरण समझायें?

.....

.....

4– लिपिट एवं ह्वाईट का वर्गीकरण समझायें?

.....

6.5 सारांश

1. नेतृत्व एक ऐसी अंतवैयक्तिक अन्तः क्रिया है जो समूह के सभी सदस्यों के मध्य होती है। इसमें समूह का प्रत्येक सदस्य दूसरे सदस्य को प्रभावित करता है परन्तु एक व्यक्ति बाकी के समूह सदस्यों को ज्यादा प्रभावित करता है और उसे हम समूह का नेता कहते हैं।

2. नेता के कुछ सामान्य शीलगुण बताये गये हैं। ये गुण है–ऊँचाई, वजन, स्फूर्ति, बुद्धि, आत्मविश्वास, शब्दाडम्बर प्रभुत्व, समायोजन की क्षमता, सामाजिकता, परिश्रमप्रियता कल्पना, दूरदर्शिता, चमत्कार एवं संकल्पशक्ति

6.6 कुंजी शब्द :

नेतृत्व – नेतृत्व एक विषय है जिसके दो महत्वपूर्ण पक्ष होते हैं। एक नेता जो नेतत्व करता है दूसरा अनुयायी जो नेतृत्व को स्वीकार करता है।

बुद्धि :

सामान्यतः नेता अधिक बुद्धि के होते हैं भिन्न समूहों के नेता अपने अनुयायियों की अपेक्षा अधिक बुद्धि के होते है।

शब्दाडम्बर :

शब्दाडम्बर से तात्पर्य ज्यादा बोलने की आदत से होता है। प्रायः यहां देखा गया है कि जो व्यक्ति ज्यादा बोलता है उसके नता बनने की सम्भावना अधिक होती है।

प्रभुता व आत्मसंस्थापन :

प्रभुता या प्रभुत्व एक ऐसी अनुक्रिया है जो दूसरो की मनोवृत्ति एवं क्रियाओं को प्रभावित करती है। यह एक शक्ति साधन है जिसका उपयोग एक व्यक्ति द्वारा दूसरे व्यक्ति के क्रियाओं को नियंत्रित व परिवर्तित करने के लिये की जाती है।

चमत्कार :

कुछ नेताओं के व्यक्तित्व में एक चुम्बकीय आकर्षण पाया जाता है। जो उनके अनुयायियों को चुम्बकीय रूप से उनकी ओर खींचता है।

बर्हिमुखता :

बहिर्मुखी व्यक्ति अनुयायियों से अधिक मिलता–जुलता है एवं लोगों को संगठित करता है।

समायोजन :

नेता में समायोजन का गुण होता है यह अत्यन्त आवश्यक है यह बताता है कि व्यक्ति में संवेगात्मक स्थिरता है।

प्रत्यक्ष नेतृत्व :

नेता जब अपने अनुयायियों से प्रत्यक्ष सम्पर्क में होता है तो समक्ष रूप से उनकी समस्याओं को सुनता है व अपनी सुझाव पेश करता है।

अप्रत्यक्ष नेतृत्व :

अप्रत्यक्ष नेतृत्व में नेता अपने समूह के सदस्यों को सीधे तौर पर प्रभावित नहीं करता है।

6.7 आगे अध्ययन के लिये :

1– समाज मनोविज्ञान की रूपरेखा, (2017), डॉ0 अरुण कुमार सिंह, मोतीलाल बनारसीदास पब्लिकेशन

2– उच्चतर समाज मनोविज्ञान (2014), डॉ0 मुहम्मद सुलेमान मोतीलाल बनारसीदास पब्लिकेशन।
3– आधुनिक सामाजिक मनोविज्ञान (1998), डॉ0 रामजी श्रीवास्तव, डॉ0 काजी आसिम आलम, डॉ0 काजी गौस आलम, मोतीलाल बनारसीदास, पब्लिकेशन।
4– समाज मनोविज्ञान (1998), डॉ0 रामजी श्रीवास्तव, बद्रीनारायण तिवारी, रमेश चन्द्र दूबे, बानी आनन्द मोतीलाल बनारासीदास पब्लिकेशन।

6.8 प्रतिदर्श जवाब आपकी प्रगति की जांच करने के लिए :

अपनी प्रगति जांचें 1

1–नेतृत्व वह व्यवहार, प्रक्रिया एवं एक प्रतिष्ठित पद है जो अन्य व्यक्तियों के व्यवहारों को नियन्त्रित करने का मार्ग तथा व्यवहार का आदर्श निश्चित करने की योग्यता द्वारा अर्जित किया जाता है। नेतृत्व सामूहिक, संगठनात्मक अथवा सामाजिक उद्देश्यों एवं लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिये नेता और अनुसरणकर्त्ताओं के सामाजिक प्रभाव का एक प्रक्रम है।

2–एक नेता को अपने नेतृत्व को स्थायी व प्रभावी बनाने के लिये अपने समूह के प्रतिक्रियाओं को समझना व उसके अनुसार व्यवहार करने की कोशिश करनी चाहिये।

3–नेतृत्व करने के लिये व्यक्ति में कुछ प्रमुखशील गुणों का होना अति आवश्यक है जिनकी सहायता से वह, परिस्थिति व अनुयायीयों के बीच परस्पर समन्वयता स्थापित कर पाता है।

4–एक नेता के अन्दर बुद्धि, शब्दाडम्बर, आत्मविश्वास, समायोजन, कल्पना व दूरदर्शिता, परिश्रम, चमत्कार व इच्छाशक्ति जैसे शीलगुणों का होना अवश्यभावी है।

अपनी प्रगति जांचें 2

1–नेतृत्व के प्रकार से यहाँ तात्पर्य नेतृत्व के लिये अपनाये गये तरीकों से है। नेतृत्व के प्रकार के विषय में विभिन्न मनोवैज्ञानिकों ने विभिन्न मत दिये हैं जिनमें बोगडिस, किम्बल यंग एवं लिपिट एवं ह्वाइट के द्वारा दिया गया वर्गीकरण प्रमुख है।

2–बोगार्डस के अनुसार नेतृत्व निम्न पांच प्रकार के होते हैं :–

1– **प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष नेतृत्व :–** प्रत्यक्ष नेतृत्व से स्पष्ट है कि नेता अपने अनुयायियों से सीधे बातचीत करता है उनकी समस्याओं को सुनता है व अपना सुझाव वेश करता है। अप्रत्यक्ष नेतृत्व में नेता अपने समूह के सदस्यों या अनुयायियों से सीधे तौर पर प्रभावित न होकर अपने विचारों द्वारा उन पर नियंत्रण करता है।

2– **सपक्षीय व वैज्ञानिक नेतृत्व :–** सपक्षीय प्रकार में नेता अपने समूह के प्रशंसनीय कामों को दूसरों के सामने रखता है अपने समूह को अन्य समूहों की तुलना में अच्छा साबित करता है।

वैज्ञानिक नेतृत्व में प्रायः नेता सत्य व न्यायप्रियता को ही ज्यादा महत्व देता है।

3– **सामाजिक कार्यकारिणी एवं मानसिक नेतृत्व :–** सामाजिक नेतृत्व मे नेता अपने समूह के लिये सामाजिक एवं सार्वजानिक कार्य करता है, एवं मानसिक नेतृत्व में नेता अपने अनुयायियों व समूह सदस्यों पर विचारों द्वारा प्रभाव डालता है।

4– **सत्ताधारी एवं करिशमाई नेतृत्व :–** सत्ताधारी नेतृत्व में नेता को अपने समूह का निरपेक्ष अधिकार अधिक होताहै। वह अपने समूह के लिये सामाजिक एवं सार्वजनिक कार्य करता है। वह स्वयं ही सभी नीति व योजननाओं को बनता है और उन्हें क्रियान्वित करता है।

करिश्माई नेतृत्व कुछ करिश्मों तथा चमत्कारी कार्यों पर निर्भर करता है। ऐसे व्यक्तियों में कुछ असाधारण व अद्वितीय गुण पायें जाते हैं।

5– **पैतृत्व व प्रजातंत्रात्मक नेतृत्व :–** पेतृक नेतृत्व में नेता अपने अनुयायियों के लिये पिता समान होता है। अनुययियों के मन में इस तरह के नेता प्रति अधिक श्रद्धा का भाव होता है।

प्रजातंत्रात्मक नेतृत्व सत्ताधारी नेता के ठीक विपरित होता है। इस तरह के नेता समूह के सभी सदस्यों के साथ विचार–विमर्श करके ही किसी नीति एवं योजना निर्माण करते है।

3– किम्बल यंग ने नेतृत्व के 6 प्रकारों का वर्णन किया है–

राजनैतिक नेतृत्व, प्रजातन्त्रात्मक नेतृत्व, सुधारक नेतृत्व, नौकर शाही नेतृत्व, कूटनीतिज्ञ नेतृत्व, सिद्धान्तवादी नेतृत्व ।

4–लिपिट एवं ह्वाइट ने नेतृत्व के तीन प्रकार बताये हैं। 1– सत्ताधारी नेतृत्व, (2) प्रजातन्त्रात्मक नेतृत्व, (3) अहस्तक्षेपी नेतृत्व ।

इकाई 7
नेतृत्व का उद्भव व तकनीकें

7.0 उद्देश्य

7.1 प्रस्तावना

7.2 नेतृत्व का उद्भव

7.2.1 समूह जटिलता

7.2.2 समूह अस्थिरता

7.2.3 समूह संकट

7.2.4 अधिकृत अध्यक्षों की विफलता

7.2.5 व्यक्तित्व कारक

7.2.6 नेता की आवश्यकताएँ

7.3 नेतृत्व की तकनीकें

7.3.1 स्पष्ट निर्देश प्रदान करना

7.3.2 अच्छे कार्यों की सराहना करना

7.3.3 समूह के सदस्यों के सलाह को महत्व देना

7.3.4 समूह सदस्यों के वैयक्तिक विकास पर बल देना

7.3.5 लक्ष्य प्राप्ति के विषय में सम्प्रेषण

7.3.6 सार्वजनिक स्थानों पर प्रशंसा

7.3.7 समूह सदस्यों को उपकरण अथवा सुविधा मुहैया कराना

7.3.8 अपने समूह के सदस्यों में रूचि लेना

7.4 नेतृत्व प्रशिक्षण एवं प्रविधियाँ

7.4.1 भाषण विधि

7.4.2 सम्मेलन विधि

7.4.3 समस्या चर्चा विधि

7.4.4 भूमिका र्निवाह

7.5 नेतृत्व प्रशिक्षण में बाधायें

7.6 अध्ययन सारांश

7.7 कुंजी शब्द

7.8 आगे अध्ययन के लिये

7.9 प्रतिदर्श जवाब आपकी प्रगति की जांच करने के लिए

7.0 उद्देश्य

जब आप यह अध्याय पूर्ण करेंगे तब आप यह जान चुके होंगे की

- नेतृत्व का उद्भव कब और किन परिस्थितियों में होता है।
- नेतृत्व के लिय क्या–क्या तकनीकें है, नेतृत्व में प्रशिक्षण का क्या महत्व है।
- नेतृत्व की क्या प्रविधियाँ हैं। नेतृत्व प्रशिक्षण में बाधक तत्व क्या–क्या हैं।

7.1 प्रस्तावना

इकाई 1 में हमने सामाजिक सीखना के विषय में जाना। उसकी विभिन्न समाज मनोवैज्ञानिकों द्वारा दी गयी परिभाषा के विषय में समझा। सामाजिक सीखना के कारक व प्रक्रिया के विषय को समझा।

इकाई 2 में हमने नेतृत्व के समप्रत्यय को सीखा। नेतृत्व के प्रकार व अर्न्तनिहित गुणों को समझा।

इकाई 3 में हम नेतृत्व के उद्भव को समझेंगे कि किन–किन परिस्थितियों जैसे समूह जटिलता, समूह अस्थिरता इत्यादि में नेतृत्व का उद्भव होता है।

भाग 3.3 में नेतृत्व की तकनीकों का समझने का प्रयास किया गया है एवं यह जानने का प्रयास किया गया है कि ऐसी कौन–कौन सी तकनीकें हैं जिन्हें व्यवहार में लाकर एक कुशल नेतृत्व किया जा सकता है।

भाग 20.4 में नेतृत्व प्रशिक्षण की प्रविधियों के विषय में समझा जा सकता है जैसे भाषण विधि सम्मेलन विधि, समस्या चर्चा विधि और भूमिका र्निवाह विधि द्वारा नेतृत्व प्रशिक्षण को समझाने का प्रयत्न किया गया है।

भाग 20.6 में नेतृत्व प्रशिक्षण की बाधाओ में विषय में चर्चा की गयी है कि ऐसे कौन–कौन से कारक हैं जो नेतृत्व प्रशिक्षण में बाधा उत्पन्न करते हैं।

7.2 नेतृत्व का उद्भव या आर्विभाव

यह सर्वविदित है कि नेतृत्व एक विश्वव्यापी प्रक्रिया है और लगभग सभी समूह में एक अथवा एक से अधिक नेता होते ही हैं। यह एक बेहद ही प्रांसगिक प्रश्न है कि नेता का उद्भव कैसे होता है ? नेतृत्व की

उत्पत्ति के लिये कौन–कौन से कारक जिम्मेदार हैं ? ऐसे कारक क्या समूहजन्य होते हैं या परिस्थितिजन्य? समाज मनोवैज्ञानिकों के अनुसार नेतृत्व की उत्पत्ति समूह की जटिलता, उसके आकार, उसकी स्थिरता–अस्थिरता, लक्ष्यों, संरचना, विचारों आदि पर निर्भर करता है। अन्य समाज मनोवैज्ञानिकों के अनुसार यह तात्कालिक नेतृत्व की सफलता, व विफलता द्वारा भी निर्धारित होता है। यहाँ निम्नलिखित कुछ ऐसे कारकों का वर्णन किया गया है जिनसे नेतृत्व के उद्‌भव प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करते हैं।

7.2.1 समूह जटिलता

नेतृत्व उद्‌भव समूह की संरचना पर बहुत हद तक निर्भर है। जैसे–जैसे समूह की जटिलता बढ़ती है वैसे–वैसे उसकी संरचना भी बदलती है लक्ष्य व आकार व कार्यों में परिवर्तन होता जाता है व नये नेतृत्व की अविर्भाव की संभावना प्रबल होती जाती है। प्रायः यह देखा गया है कि छोटे समूहों के लक्ष्य, आवश्यकता, कार्य मूल्य इत्यादि सीमीत है। किन्तु आकार बढ़ने पर आवश्यकतायें लक्ष्यों आदि में वृद्धि होने के कारण नेतृत्व की आवश्यकता भी बढ़ती जाती है। सामूहिक अन्तः क्रिया बढ़ने की वजह से जटिलता बढ़ती है तथा इससे नेतृत्व श्रृंखला का जन्म होता है। श्रृंखला में सबसे ऊपर (Primary Leaders) प्राथमिक स्तर के नेता तथा निचली सतह पर (Secondary Leader) द्वितीयक स्तर के नेता होते हैं अतः यहाँ यह स्पष्ट है कि बड़ा समूह होने से कई तरह के नेताओं का जन्म होता है।

7.2.2समूह अस्थिरता

नेतृत्व के उद्‌भवन में समूह की अस्थिरता की काफी अहम् भूमिका है। जब समूह के सदस्यों के मतभेद काफी बढ़ जाते हैं और उनमें सद्‌भाव व पारस्पारिकता की कमी हो जाती है व समूह लक्ष्य की प्राप्ति खतरे में पड़ जाती है तो नये नेता के बनने की संभावना तीव्र हो जाती है। ऐसे समय में जो व्यक्ति समूह में शान्ति व अनुशासन कायम करने में व समूह लक्ष्यों को प्राप्त करने में सक्षम होता है वही नेता बनने के योग्य होता है और इसी वजह से समूह के सभी सदस्य उस पर विश्वास करने लगते हैं। कोई भी नेता अपने उभरने के समय अनौपचारिक रूप से समूह का पथ प्रदर्शन करता है परन्तु शीघ्र ही वह अपने योग्यता की वजह से समूह का औपचारिक नेता बन जाता है।

7.2.3 समूह संकट

प्रायः यह देखा गया है कि समूह पर जब–जब संकट के बादल आते हैं और समूह वाहय शक्तियों से अपनी रक्षा करने में असफल होता है या अपने निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति में असफल होता है तो ऐसी परिस्थिति में भी नये नेता का जन्म होता है, जो अपने संकटग्रस्त समूह को संकट से निकालने का कार्य करें व लक्ष्य प्राप्ति को सुनिश्चित करें। इस सन्दर्भ में एक प्रयोग उल्लेखित है। हैम्बलिन (1958) द्वारा किये गये इस अध्ययन 3–3 व्यक्तियों के 24 समूहों को लिया गया जिसमें 12 प्रायोगिक समूह थे व 12 नियंत्रित समूह थे। इस प्रयोग में प्रयोगात्मक समूह को एक खेल संकटकालीन परिस्थिति में सीखना था जहाँ खेल नियम में अचानक परिवर्तन कर उसे कठिन बना दिया जाता था और नियन्त्रित समूह को वही खेल सामान्य परिस्थिति में सीखना था। परिणाम में यह पाया गया कि 12 प्रायोगिक समूह में से 9 प्रायोगिक समूहों ने व 3 नियन्त्रित समूहों ने अपना नेता संकटकालीन परिस्थितियों के समय बदल दिया। यह भी देखा गया कि

संकट के समय नेता की शक्ति बढ़ जाती है और समूह द्वारा उसकी बात आसानी से मान ली जाती है। परन्तु यदि नेता अपने समूह को संकटग्रस्त परिस्थितियों से निकालने में असमर्थ होता है तो समूह नेता को प्रतिस्थापित कर देता है। अर्थात् नेता का उद्‌भव उसके व्यक्तित्व कारकों के साथ–साथ अन्य परिस्थितिजन्य कारकों पर भी निर्भर करता है। इससे नेतृत्व की उत्पत्ति के अलावा नेतृत्व का समूह में वितरण भी प्रभावित होता है क्योंकि ऐसी परिस्थिति में सत्ताधारी नेता की उत्पत्ति होने की सम्भावना अधिक होती है।

7.2.4 अधिकृत अध्यक्षों की विफलता

जब किसी समूह के निर्वतमान अध्यक्ष अपन कार्यों का निर्वहन करने में विफल होने लगते हैं तो ऐसी परिस्थिति में नये नेतृत्व की उद्‌भवन की संभावना काफी तीव्र हो जाती है। अधिकृत प्रधान अथवा अध्यक्ष अनेकों कार्य जैसे– योजना निर्माण, समूह की नीति बनाना, विरोधकार्य इत्यादि करते हैं और जब वे अपने से अपेक्षित इन कर्तव्यों को पूरा करने में विफल हो जाते हैं तथा निर्धारित लक्ष्यों को पूर्ण करने में असफल होने लगते हैं तो ऐसे समय में नेता को समूह के द्वारा परिवर्तित कर दिया जाता है। क्रोकेट (1955) ने अपने एक अध्ययन में पाया कि 83% असफल औपचारिक अध्यक्षों को समूह के द्वारा प्रतिस्थापित कर दिया गया तथा मात्र 39% सफल औपचारिक अध्यक्षों के जगह पर समूह के सदस्यों ने नये नेतृत्व को चुना।

7.2.5 व्यक्तित्व कारक

नेतृत्व की उत्पत्ति में प्रभावशाली व्यक्त्वि की बहुत महत्वपूर्ण भूमिका होती है समाज मनोवैज्ञानिकों के अनुसार बुद्धि, शक्ति, सूझ, सांवेगिक स्थिरता, दूरदर्शिता, सम्प्रेषण कौशल आत्मविश्वास, लचीलापन प्रोत्साहन एवं रूपक का उपयोग कर स्थितियों की व्याख्या करने के लिये निर्धारिक व्यक्तित्व कारक हैं। जिन व्यक्तियों में उपरोक्त वर्णित गुण पाये जाते हैं समूह का नेता बनने में कम मुश्किलें आती हैं औीर ये अपने इन्हीं गुणों की वजह से समूह सदस्यों को प्रभावित कर लेते हैं । उपरोक्त वर्णित गुण उन्हें विभिन्न सामाजिक समस्याओं के समाधान में मदद करते हैं। परन्तु इन गुणों के अलावा नेतृत्व उद्‌भवन के लिये उपयुक्त सामाजिक परिस्थिति का भी होना अनिवार्य है।

7.2.6 नेता की आवश्यकताएँ

नेतृत्व के उद्‌भवन में कुछ आवश्यक्तायें भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है जैसे– शक्ति या सत्ता की आवश्यकता, प्रतिष्ठा की आवश्यता, धर्नाजन की आवश्यकता, प्रभुत्व की आवश्यकता। ये आवश्यकतायें जिन व्यक्तियों में प्रबल होती हैं उनमें नेतृत्व करने की क्षमता होती है। यदि किसी समूह के कुछ लोगों में इस तरह की आवश्यकतायें हो तो उनमें नेतृत्व के लिये स्पर्धा होगी।

आधुनिक समाज मनोवैज्ञानिकों के अनुसार नेता के अविर्भाव के लिये शीलगुणों के साथ–साथ उपर्युक्त सामाजिक परिस्थिति का भी होना अनिवार्य है। इसके लिए नेता को अपने समूह सदस्यों को संप्रेषण के माध्यम से यह मालूम करना पड़ता है कि उन्हें किसी वस्तु की आवश्यकता है या नहीं और तब उन्हें यह वस्तु दे दी जाती है।

अपनी प्रगति जांचें 1

1– नेतृत्व के उद्‌भव को प्रभावित करने वाले कारक कौन–कौन सें हैं?

.....

.....

.....

2– उन व्यक्तित्व कारकों पर प्रकाश डालें जो नेतृत्व उत्पत्ति के दौरान मुख्य भूमिका निभातें हैं।

.....

.....

.....

3– नेतृत्व की आवश्यकताओं के विषय में विवरण दीजिए?

.....

.....

.....

7.3 नेतृत्व की तकनीकें (Techniques of Leadership)

नेतृत्व की नई तकनीकों को सीखना एक नेता की प्रभावशीलता में सुधार करता है, अतः यह एक नेता के लिये अति आवश्यक है कि वह समय व परिस्थिति के अनुसार नयी–नयी तकनीकों को सीखे व समझे व विकसित भी करें। यह सर्वविदित है कि नेतृत्व की एक ही शैली हर स्थिति में उपर्युक्त नहीं हो सकती है। प्रभावशाली नेताओं ने समय–समय पर परिस्थितियों की जाँच करने और नेतृत्व की नयी–नयी तकनीक विकसित किया है। नेतृत्व को प्रभावी बनाने में निम्न विधियाँ बहुत महत्वपूर्ण हैं।

7.3.1 स्पष्ट निर्देश प्रदान करना

प्रभावी नेता यह अच्छी तरह जानते हैं कि उनका समूह लक्ष्य क्या है और उस लक्ष्य प्राप्ति में क्या–क्या बाधायें व सहयोग है। साथ ही साथ समूह के सदस्यगण व कर्मचारी भी अपनी–अपनी भूमिका व कार्यों के विषय में स्पष्ट जानना चाहते हैं अतः यह नेता के लिये अत्यन्त आवश्यक है कि वह समूह सदस्यों से अपनी अपेक्षाओं का संचार करें। नेता को समूह के लक्ष्य व नैतिक मूल्यों के विषय में भली–भांति ज्ञात होना आवश्यक है।

समूह में अपने उम्मीदों को निरन्तर संप्रेषित करना नेता के लिये नितांत आवश्यक है, चाहे वह वैयक्तिक तौर पर हो अथवा समूह के बैठक के दौरान।

7.3.2 उचित व अच्छे कार्यों की सराहना करना:

सफल नेता का यह मूलभूत गुण होता है कि वह यह समझे कि उसके समूह के लिए क्या उचित व लाभदायक है और क्या अनुचित व हानिकारक। अच्छा नियम या कार्य को समझने के साथ–साथ उसे कब व कैसे लागू करना है, उसमें कितना समय लगेगा इत्यादि की जानकारी एक प्रभावी नेता को होती है किन कार्यों को समूह के सदस्यों की सहायता से पूर्ण करना है, उस कार्य को करने करने के दौरान आने वाली

बाधा उनका हल खोजना, सफलता के दर को उच्च करना, विफलता के दर को कम करना, कार्य को करने की पहल करना, तथाकथित कार्य को करने के दौरान भी सीखना इत्यादि कुछ ऐसे गुण है जो हर नेता में होने अवश्यंभावी है। सफल नेता को अपने सहयोगियों को उनके अच्छे कार्यों के लिये ईमानदारी से तारीफ करना आना चाहिये।

7.3.3 समूह सदस्यों के सलाह को महत्व देना:

समूह के सदस्य भी काम की प्रक्रिया में शामिल होना चाहते हैं व उनका समय–समय पर समूह निर्णयों के दौरान सलाहों को देना तरफ इंगित करता है कि वह भी समूह लक्ष्य व समूह कार्यों के बारे में उतनी ही ईमानदारी से समझना चाहते हैं। अतः यह नेता की नैतिक जिम्मेदारी एवं कर्तव्य है कि वह अपने समूह सदस्यों की आवश्यकताओं एवं सलाहों को सुने तथा समझे उन्हें समय दे और यदि सम्भव हो तो उनकी राय स्वीकार करें। क्योंकि किन रायों को स्वीकार करना है जिससे लाभ मिले व किन रायों को अस्वीकार करना जिससे हानि होगी इत्यादि की समझ एक प्रभावी नेता को होती है। एक नेता को यह मापदण्ड निर्धारित करना होता है कि किस तरह के कार्यों को सम्मिलित किया जाना चाहिये अथवा किस प्रकार के निर्णयों के धनात्मक प्रभाव सभी पर पड़े ताकि हर कोई उसके विचार से अधिक लाभ उठा सके साथ ही साथ समूह सदस्यों को भी यह बात पता चल सके कि किस प्रकार के विचारों को सम्मिलित किया जायेगा। एक नेता को यह भी नियत करना होता है कि कब और कैसे व किन भाषाओं का उपयोग करते हुये अपने सुझाव को सामने रखने हैं साथ ही साथ किन सुझावों और सूचनाओं का चयन करना है इसके साथ समूह सदस्यों को अभिप्रेरित करना उनकी भावनाओं का ख्याल रखना भी एक नेता को प्रभावी नेता के रूप में संस्थित करता है।

7.3.4 समूह सदस्यों का वैयक्तिक विकास पर बल देना:

जब समूह का हर सदस्य व्यक्तिगत रूप से सक्षम होगा तो समूह भी सक्षम और मजबूत होगा। इसलिये एक नेता की यह जिम्मेदारी है कि वह अपने समूह सदस्यों के विकास पर ध्यान दें। उन्हें प्रशिक्षण प्राप्ति के लिये अभिप्रेरित करें उन्हें कठिन कार्य जिससे वे कुछ सीख प्राप्त कर सकें करने के लिये दें समय–समय पर उनको सहायता प्रदान करें एवं आगे बढ़ने के लिए मौके दें। यह उनका परम कर्तव्य है कि समय–समय पर अपने समूह सदस्यों के मार्ग में आने वाली बाधाओं को हटायें। इस तरह से समूह के सदस्य भी अपने नेता के प्रति ईमानदार हो जाते हैं और यह प्रभावी नेतृत्व के लिये अच्छा संकेत है।

7.3.5 लक्ष्य प्राप्ति के विषय में संप्रेक्षण:–

एक नेता यह जानता है कि एक अपने समूह के साथ लगातार संप्रेक्षण ही सफलता की कुंजी है। एक सफल नेता इस बात को अच्छी तरह से जानता है कि कब उसके समूह सदस्यों को फीडबैक की जरूरत है और कब अभिप्रेरण की। वह इस बात की भी पूरी कोशिश करता है कि उसके अनुयायियों को हमेशा पता रहे कि उन्होंने समूह लक्ष्यों को प्राप्त करने के मार्ग में कहाँ तक का सफर तय किया है। और वे इस वक्त इससे कितनी दूर है। लगातार संप्रेषण से समूह सदस्यों व नेता दोनों ही पक्षों को यह पता होता है कि समूह लक्ष्यों की प्राप्ति में कैसी व कितनी बाधा है। साथ ही साथ नेता समूह सदस्यों की सहायता भी करते जाते हैं लक्ष्य प्राप्ति के लिये जहाँ तक सम्भव हो वहाँ प्रशिक्षण की भी व्यवस्था करते हैं। परानुभूति,

संगतता, ईमानदारी, और सकारात्मक मनोवृत्ति से प्रतिक्रिया देने पर सकारात्मक दृष्टिकोण कर्मचारियों को प्रतिक्रिया प्राप्त करने के तरीके के लिये महत्वपूर्ण है।

समूह सदस्यों का साथी बनना भी नेतृत्व गुणों में एक भूमिका निभाता है। एक नेता को यह बात हमेशा प्रभावित करती है कि उसके समूह के सदस्यों का पलायन किसी अन्य समह की तरफ तो नहीं हो रहा। एक नेता नेतृत्व के रास्तों पर चलते हुए यह महसूस करता है कि उसके समूह सदस्य भी दूसरे समूह सदस्य के पास जा सकते हैं या उसे पदच्युत कर सकते हैं फिर भी उसके समूह में बने हुये है।

एक नेता को अपने अनुयायियों को साथी के रूप में देखना चाहिये। उन्हें अक्सर समूह के लक्ष्यों, नैतिक मूल्यों इत्यादि के विषय में वार्ता करते रहने चाहिये। उनसे यह पता करते रहना चाहिये कि वे अपने आप को इस समूह में किस स्थान पर देखते हैं एवं समूह के लिये गये निर्णयों की प्रक्रिया में उन्हें स्थान देना चाहिये।

किसी भी समूह का नेतृत्व करना कोई आसान काम नहीं है। यह नेता की जिम्मेदारी होती है कि वह सदस्यगणों के उम्मीदों को प्रबंधन करे व यह सुनिश्चित भी करें समूह सदस्य भी साथ ही साथ प्रबंधन व टीम कार्य करते रहें।

7.3.6 सार्वजनिक जगहों पर प्रशंसाः

प्रायः यह हर कोई चाहता है कि उसकी प्रशंसा उसके द्वारा किये गये कार्य के लिये हो लेकिन जब यही प्रशंसा सार्वजनिक जगहों पर हो तो समूह के अन्य सदस्य भी अभिप्रेरित होते हैं। समूह के सदस्यों की भावनाओं को अनुभव करने से समूह के सदस्यों को यह पता चलता है कि नेतृत्व अच्छा प्रदर्शन करना चाहता है और यह सब कारक मिलकर संगत परिणाम देने का माद्दा रखते हैं।

यदि नेता अपने समूह या टीम में लोगों की गलतियों को खुले तौर पर सभी के सामने सुधारने की कोशिश करता है तो इससे समूह सदस्यों की भावनाएँ आहत होगी और समूह का मनोबल कम होता है अतः एक प्रभावी नेता को ऐसी गलतियों को करने से बचना चाहिये।

कोई भी पूर्ण रूपेण सक्षम नहीं होता है और एक नेता को ऐसे मौकों का प्रयोग करना चाहिए जब वह अपने समूह सदस्यों से मिले व उन्हें अकेले में सही सलाह व प्रतिक्रिया दे और सही व्यवहार करने के लिये अभिप्रेरित भी क्योंकि निजी तौर पर व्यक्तियों को संबोधित करने के लिये उन्हें सकारात्मक सुधार और सकारात्मक उपयोग करने का मौका मिलता है।

नेता को हमेशा यह बात ध्यान रखनी चाहिए कि वह अधिकारों व मिले हुये प्राधिकारों को अपने ऊपर हावी न होने दें। वह समूह के समक्ष स्वयं को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करें और स्वयं उन तकनीकों को आदर्श रूप से प्रस्तुत करे जैसा कि आपके समूह से अपेक्षित है। यदि नेता लोगों या समूह सदस्यों के पीछे उनके विषय में बात करेगा तो उसका समूह बिखर जायेगा। अतः नेता को यह बात हमेशा ध्यान में रखनी चाहिए कि लोगों को पीछे से बात न करें व टीम को एकीकृत रखें।

7.3.7 समूह सदस्यों को उपकरण अथवा सुविधा मुहैया कराना

समूह नेता की यह नैतिक जिम्मेदारी है कि वह अपने समूह सदस्यों को वह सुविधा व प्रशिक्षण उपलब्ध कराये जिससे समूह सदस्यों को उद्देश्यों को प्राप्त करने में आसानी हो व दिया गया कार्य सुचारू रूप से हो सके।

7.3.8 अपने समूह के सदस्यों में रूचि लेना:

एक सफल नेता के पास यह तकनीक होनी ही चाहिये जिसके द्वारा वह अपने समूह के सदस्यों के हित समझ सकें व उनकी रूचियों को जानने के लिये समय निकालें। उनके परिवारजनों के विषय में जानकारी ले। यह एक ऐसा तरीका होता है जो नेता को उसके समूह सदस्यों का पंसदीदा बना देता है और इससे नेता को भी अपने समूह सदस्यों की सहायता का अवसर मिलता है और समूह का लक्ष्य भी प्राप्त करने में इस तरह के नेता को उसके कर्मचारियों व समूह के सदस्यों का पूरा सहयोग प्राप्त होता है जिससे वह अपने लक्ष्यों को प्राप्त करते हैं।

अपनी प्रगति जांचें 2

1– नेतृत्व की तकनीके क्या होती हैं?

.....

.....

.....

2– समूह सदस्यों के वैयक्तिक विकास पर बल देना क्यों आवश्यक है।

.....

.....

.....

7.4 नेतृत्व प्रशिक्षण एवं प्रविधियाँ

नेतृत्व प्रशिक्षण जैसे कि नाम से प्रतिबिंबित है इसका अर्थ है नेतृत्व की भूमिका निर्वहन के लिये प्रशिक्षण एवं आवश्यक तथ्यों का ज्ञान कराना। नेतृत्व शिक्षा अथवा प्रशिक्षण के द्वारा नेता को अधिक प्रभावी व गुणकारी बनाया जा सकता है। नेतृत्व प्रशिक्षण की अभिधारणा मूलतः दो बातों पर आधारित है 1. प्रजातन्त्र में प्रत्येक व्यक्ति नेता हो सकता है यदि उसे अनुकूल परिस्थिति मिल जाये तो। 2. नेता जन्मजात होते हैं जो जन्म से ही नेतृत्व के गुणों को लेकर पैदा हुआ है वह नेता बनकर ही रहेगा व जो पैदाईशी नेता नहीं है उन्हें प्रशिक्षण देकर नेता नहीं बनाया जा सकता है।

प्रजातंत्र में थोड़ी सी भी परिस्थिति अनुकूल मिल जाने पर कोई भी व्यक्ति नेता बन सकता है। ऊपर दी गयी दोनों ही अभिधारणायें आज चलन में ही हैं।

नेतृत्व प्रशिक्षण की आवश्यकता तथा महत्वः–

नेतृत्व प्रशिक्षण आज के परिप्रेक्ष्य काफी महत्वपूर्ण है। यदि समूह नेता प्रशिक्षित होते हैं तो उस समूह का मनोबल तथा उत्पादकता दोनों ही बढ़ जाते हैं। क्योंकि उन्हें प्रशिक्षण के दौरान नेतृत्व के अधिकार व

कर्तव्य दोनों ही के विषय में ज्ञान हो जाता है। इन प्रशिक्षणों में यह भी पता चलता है कि समूह के सदस्यों की आवश्यकतायें क्या–क्या है व उन्हें कैसे समुचित व न्यायपूर्ण ढंग से पूरा किया जाता है।

उद्योग धन्धों व व्यवसायों के संदर्भ में नेतृत्व प्रशिक्षण का विशेष महत्व है। व्यवसाय में पर्यवेक्षकों व फोरमैनों के सामने नित्य नयी समस्याएँ आती हैं जिनका समाधान करने के लिये प्रशिक्षत होना अनिवार्य है। औद्योगिक संगठनों के लिये एक प्रशिक्षित पर्यवेक्षक अप्रशिक्षित पर्यवेक्षक की अपेक्षा कई गुना श्रेष्ठकर होता है। व्यवसाय संगठनों में कार्यपालकों तथा प्रबंधकों का निर्णय भी संगठन को मुनाफा या घाटा दिलाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है और यह उचित निर्णय लेने की क्षमता उन्हें दिये गये प्रशिक्षण से निर्धारित होती है।

सरकारी संस्थाओं में भी नेतृत्व प्रशिक्षण का महत्व होता है। प्रशासनिक अफसरों को भी समय–समय पर अपने कार्यकाल के दौरान भिन्न–भिन्न समस्याओं का सामना करना पड़ता है व उचित निर्णय लेने पड़ते हैं। साथ ही साथ उन्हें अपने उच्चाधिकारियों व अधीनस्थों दोनों के साथ तालमेल रखना पड़ता है। इस तरह के परिस्थितियों से निपटने में प्रशासनिक कुशलता काम आती है और प्रशासनिक कुशलता के लिये प्रशिक्षण अति आवश्यक है अतः उच्च पदाधिकारियों को उनके चयन के पश्चात् सरकार कुछ दिनों का प्रशिक्षण कराती है।

शिक्षा के क्षेत्र में भी नेतृत्व प्रशिक्षण की आवश्यकता है। यदि स्कूल व कालेज के प्रिंसिपल व टीचर प्रशिक्षित होंगे तो स्वभावतः उन्हें अपने कार्यों को पूरा करने में, उत्तरादायित्व निभाने व बच्चों को निर्देशन देने में सुविधा होगी।

प्राविधियाँः– नेतृत्व प्रशिक्षण की कई प्राविधयाँ है जिनमें निम्न प्रमुख हैं।

1. भाषण विधि (Lecture Method)
2. सम्मेलन विधि (Corferene Method)
3. समस्या चर्चा विधि (Case discussion Method)
1. भूमिका निर्वाह विधि (Role Playing Method)

7.4.1 भाषण विधिः–

इस विधि में एक विशेषज्ञ नेता को एक खास जगह पर एकत्रित कर, नेतृत्व करने के भिन्न–भिन्न विधाओं पर भाषण देता है, विभिन्न समस्याओं एवं उनके निराकरण व समाधान के लिये विभिन्न विकल्पों पर भी प्रकाश डालता है।

नेता अपने विशेषज्ञों की बातों को ध्यान से सुनकर उसे आत्मसात् करने की कोशिश करते है व अपने मनोवृत्तियों व व्यवहार में परिवर्तन के लिये उद्यत् होते हैं। यह एक तुलनात्मक रूप से आसान पद्यति है। परन्तु इस विधि की कुछ कमियाँ भी हैं जैसे–कुछ समाज मनोवैज्ञानिकों का कहना है इस विधि द्वारा अधिकतर नेताओं को कोई विशेष लाभ नहीं मिलता क्योंकि वह जगह बैठकर केवल विशेषज्ञों की बातों को सुनता है कोई अन्तः क्रिया नहीं करता। मनोवैज्ञानिकों का यह भी कहना है कि उच्च बुद्धि के नेता इस विधि से अधिक लाभ नहीं उठा पाते क्यों कि उनका ध्यान भाषण में केन्द्रित नहीं हो पाता है। मायर (1970)

ने कहा है कि मात्र भाषण विधि द्वारा नेतृत्व के गुणों को विकसित नहीं किया जा सकता है क्योंकि उससे कौशलता नहीं आती है और ऐसे प्रशिक्षित नेताओं को अपने कार्य पर लौटने पर मुश्किल होती है।

7.4.2 सम्मेलन विधिः– (Corference Method): सम्मेलन विधि में सभी नेतागण जिन्हें प्रशिक्षित करना है किसी विशेषज्ञ की उपस्थिति में विचार विमर्श करते हैं यहाँ विशेषज्ञ उन्हें भाषण नहीं देता है परन्तु विचार विमर्श द्वारा नेतृत्व की कुशलता व प्रभावशीलता को बढ़ाने की विधि से अवगत कराता है। इस विधि द्वारा अधिक बुद्धि के नेताओं को प्रशिक्षण देना कठिन है। क्योंकि ऐसे नेता विचार विमर्श में सम्मिलित नहीं होते हैं और मानसिक रूप से अलग–थलग बने रहते हैं

7.4.3 समस्या विवेचन विधिः– समस्या विवेचन विधि भी कई मामलों में सम्मेलन विधि के ही समान होती है इसमें भी एक विशेषज्ञ होता है परन्तु प्रशिक्षण पाने वाले व्यक्तियों की संख्या कम होती है विशेषज्ञ व प्रशिक्षण प्राप्त करने वाले नेता आपस में विचार विमर्श एवं अन्तः क्रिया करते हैं। इस विचार विमर्श से उन्हें नये–नये अनुभव प्राप्त होते हैं वे धीरे–धीरे प्रशिक्षित होने लगते हैं। समस्या विवेचन विधि में विचार–विमर्श विशिष्ट पहलुओं पर होता है व समूह छोटा होता है, हर सदस्य पर विशेषज्ञ पूर्ण रूप से ध्यान दे पाता है। इससे प्रशिक्षार्थियों को लाभ अधिक मिलता है। चूँकि इस विधि में समूह छोटा होता है अतः प्रशिक्षार्थियों को लाभ अधिक मिलता है।

7.4.4 भूमिका निर्वाह विधि (Role Playing Method):– इस विधि का उद्‌गम स्त्रोत (Psychodrama) मनोनाटक है और करके सीखना इसकी प्रमुख अभिधारणा होता है। क्योंकि जब हम कोई चीज करके सीखते हैं तो वह अधिक मजबूत व टिकाऊ होती है। इस विधि में प्रशिक्षण पाने वाले नेता को कोई विशेष भूमिका करने के लिये कहा जाता है भूमिका निभाते समय उससे कर्तव्यों व अधिकारों को सीखने व समझने का मौका मिलता है। भूमिका निभाते समय व्यवहारिक कठिनाइयाँ महसूस होती हैं जिनके समाधान हेतु नेता को सीखने का अवसर मिलता है।

अपनी प्रगति जांचें 3

1– नेतृत्व प्रशिक्षण से आप क्या समझते है इसकी उपयोगिता समझायें?

.....

.....

.....

2– नेतृत्व प्रशिक्षण की विधियों का उल्लेख करें?

.....

.....

.....

7.5 नेतृत्व प्रशिक्षण में बाधायें (Obstacles in the way of leadership training):–

कुछ कारक नेतृत्व प्रशिक्षण में बाधा उत्पन्न करते हैं।

- जब नेता यह महसूस करता है कि उसे किसी प्रकार की प्रशिक्षण की आवश्यकता नहीं है एवं समूह की क्रियायें उसे ठीक से संचालित होते हुए हुयी दिखती है और वह समूह के मनोबल व उत्पादकता के स्तर में भी जब परिवर्तन नहीं चाहता तो ये कारक नेता प्रशिक्षण में बाधा उत्पन्न करते हैं। ऐसे व्यक्तित्व वाले नेता यदि समूह में कुछ गड़बड़ी आये तो उसे अपने ऊपर न लेकर वाह्य कारकों को दोषी ठहराते हैं।
- नेता की प्रशिक्षण प्रक्रियाओं के प्रति मनोवृत्ति भी एक प्रमुख कारक है। प्रशिक्षण प्रक्रियाओं के प्रति मनोवृत्ति अनुकूल न होने पर भी वह यह सोच सकता है कि नितियों व योजनाओं के निर्धारण में वह इतना सक्षम है कि उसे किसी प्रकार के प्रशिक्षण की जरूरत नहीं है।
- कभी–कभी नेता का अपना व्यक्तित्व भी नेतृत्व प्रशिक्षण के मार्ग में बाधक हेा जाता है अक्सर देखा गया है कि नेताओं में पद चेतना काफी अधिक तेज है। वह प्रशिक्षण में प्रायः भाग इसलिये नहीं लेना चाहता है ताकि उसकी कमजोरियों प्रकाश में न आ जाय फलतः अपने आपको प्रशिक्षण से दूर रखने का प्रयास करता है।

अपनी प्रगति जांचें 4

1– नेतृत्व प्रशिक्षण में बाधा उत्पन्न करने वाले कारकों को उल्लेखित करें?

.....

.....

.....

7.6 अध्ययन सारांश

- इस इकाई में नेता के उद्भव से सम्बन्धित कारकों का उल्लेख किया गया है। इन कारकों में से समूह जटिलता, समूह संकट, समूह अस्थिरता, अधिकृत अध्यक्षों की असफलता नेता की आवश्यकताएँ एवं व्यक्तित्व कारक प्रधान है।

- नेता के मुख्य दो तरह के कार्य होते हैं– प्रधान कार्य तथा सहायक कार्य । प्रधान कार्यों में कार्यकारिणी का कार्य, योजना निर्माता का कार्य, नीति निर्माता का कार्य, विशेषज्ञ के रूप में कार्य, वाह्य समूह के प्रतिनिधि के रूप में कार्य, आन्तरिक सम्बन्धों के नियंत्रक के रूप में कार्य, पुरस्कार एवं दण्ड के प्रबन्धक के रूप में कार्य तथा पंच एवं मध्यस्थ के रूप में कार्य प्रधान है। सहायक कार्यों में आदर्श नेता के रूप में कार्य, समूह के प्रतीक के रूप में नेता का कार्य, व्यक्तिगत उत्तदायित्व के लिए स्थानापन्न के रूप में कार्य, सिद्धान्तवादी के रूप में कार्य, पिता तुल्य के रूप में कार्य आदि प्रधान हैं।
- नेतृत्व प्रशिक्षण के चार प्रविधियों भाषण, सम्मेलन, समस्या चर्चा, भूमिका का विस्तृत वर्णन किया गया है। साथ ही, नेतृत्व प्रशिक्षण के मार्ग में आने वाले कुछ प्रमुख बाधाओं को भी उल्लेखित कया गया है।

7.7 कुंजी शब्द :

समूह जटिलता :

समूह जटिलता समूह संरचना से सम्बन्धित है जैसे–जैसे समूह बड़ा होता है उसकी संरचना भी बदलती है, वैसे–वैसे उसके लक्ष्य आकार व कार्यों में परिवर्तन होता जाता है। सामूहिक अन्तःक्रिया बढ़ने की वजह से जटिलता बढ़ती जाती है व इससे नेतृत्व श्रृंखला का जन्म होता है।

समूह अस्थिरता :

समूह अस्थिरता से तात्पर्य समूह के सदस्यों के आपसी मतभेदों के बढ़ने से है और उनमें सद्भाव व पारस्परिकता की कमी से है। इस अवस्था में समूह लाया की प्राप्ति खतरे मे पड़ जाती है और समूह अस्थिर होता जाता है।

नेतृत्व तकनीके :

नेतृत्व की तकनीको को सीखना एक नेता की प्रभावशीलता में सुधार करता है। नेतृत्व की तकनीकों से तात्पर्य है नेतृत्व के नये कौशल और उनको व्यवहार में लाने का तरिका सीखना।

नेतृत्व प्रशिक्षण इसका तात्पर्य है नेतृत्व की भूमिका के निर्वहन के लिये प्रशिक्षण एवं आवश्यक तथ्यों का ज्ञान करना।

भाषण विधि :

भाषण विधि मे नेता अपने अनुयायियों को एकत्रित करता है। भिन्न–भिन्न विधाओं पर भाषण देता है व उनके निराकरण व समाधान के लिये विभिन्न विकल्पों पर प्रकाश डालता है।

सम्मेलन विधि :

सम्मेलन विधि में सभी नेतागण जिन्हें प्रशिक्षित करना है किसी विशेषज्ञ की उपस्थिति में विचार विमर्श करते हैं।

समस्या विवेचना विधि :

समस्या विवेचन विधि कई मामलों में सम्मेलन विधि के समान होती है। इसमें भी एक विशेषज्ञ होता है तथा विशेषज्ञ व प्रशिक्षण प्राप्त करने वाले नेता आपस में विचार विमर्श व अन्तःक्रिया करते हैं व नये–नये अनुभव प्राप्त करते हैं।

7.8 आगे अध्ययन के लिये :

1– समाज मनोविज्ञान की रूपरेखा, (2017), डॉ0 अरुण कुमार सिंह, मोतीलाल बनारसीदास पब्लिकेशन

2– उच्चतर समाज मनोविज्ञान (2014), डॉ0 मुहम्मद सुलेमान मोतीलाल बनारसीदास पब्लिकेशन।

3– आधुनिक सामाजिक मनोविज्ञान (1998), डॉ0 रामजी श्रीवास्तव, डॉ0 काजी आसिम आलम, डॉ0 काजी गौस आलम, मोतीलाल बनारसीदास, पब्लिकेशन।

4– समाज मनोविज्ञान (1998), डॉ0 रामजी श्रीवास्तव, बद्रीनारायण तिवारी, रमेश चन्द्र दूबे, बानी आनन्द मोतीलाल बनारासीदास पब्लिकेशन।

7.9 प्रतिदर्श जवाब आपकी प्रगति की जांच करने के लिए

अपनी प्रगति जांचें 1

1– नेतृत्व एक विश्वव्यापी प्रक्रिया है। नेतृत्व की उत्पत्ति के प्रमुख समूहजन्य या परिस्थितिजन्य कारकों का वर्णन निम्नलिखित है– समूह, जटिलता, समूह अस्थिरता, समूह संकट, अधिकृत अध्ययनों को

विकफलता, व्यक्तित्व कारक (बुद्धि, शक्ति, सूझ इत्यादि) व नेतृत्व प्रदान करने वाले व्यक्ति की आवश्यकता (शक्ति या सत्ता की आवश्यकता, प्रतिष्ठा की आवश्यकता प्रभुत्व की आवश्यकता इत्यादि)।

2– नेतृत्व उद्‌भवन के लिये कुछ प्रमुख व्यक्तित्व कारकों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। जैसे– बुद्धि, शक्ति, सूझ, सांवेगिक स्थिरता, दूरदर्शिता, सम्प्रेषण, कौशल, आत्मविश्वास, लचिलापन, प्रोत्साहन एवं रूप का उपयोग करने की क्षमता।

3– नेता की आवश्यकताओं से तात्पर्य व्यक्ति में उपस्थित आवश्यकता से है यह आवश्यकतायें जिन व्यक्तियों में होती हैं उनमें नेतृत्व करने की क्षमता होती है। जैसे– शक्ति की आवश्यकता या सत्ता की आवश्यकता, प्रतिष्ठा की आवश्यकता, धनारजन की आवश्यकता, प्रभुत्व की आवश्यकता।

अपनी प्रगति जांचें 2

1– नेतृत्व की तकनीकों से तात्पर्य नेतृत्व के कौशल व उनके प्रयोग से है। नेतृत्व की तकनीकें कालनुसार, जगह–अनुसार व परिस्थिति अनुसार बदलती रहती है, अतः एक नेता के लिये नयी–नयी तकनीकों को सीखना व उसे प्रयोग में लाना अति आवश्यक है ये नेतृत्व को प्रभावी बनाने में बहुम मद्‌दगार होती हैं। जैसे– स्पष्ट निर्देश प्रदान करना, समूह सदस्यों द्वारा किये गये उचित कार्यों की सरहाना, समूह सदस्यों के सलाह को महत्व देना, उनके द्वारा किये गये उचित कार्यों की सराहना करना समूह सदस्यों के वैयक्तिक विकास पर बल देना, लक्ष्य प्राप्ति के विषय में सम्प्रेषण।

2– समूह सदस्यों यदि व्यक्तिगत रूप से सक्षम होगें तभी समूह भी सक्षम होगा। इसीलिये यह एक नेता की नैतिक जिम्मेदारी है कि वह समूह सदस्यों के नैतिक जिम्मेदारी है कि वह अपने समूह सदस्यों के विकास पर ध्यान दे, उन्हें प्रशिक्षण के लिये अभिप्रेरित करे, उन्हें कठिन कार्य दे जिससे वह कुछ सीखें और उनके मार्ग में आने वाली बाधाओं को हटायें।

अपनी प्रगति जांचें 3

1 नेतृत्व प्रशिक्षण से तात्पर्य नेतृत्व की भूमिका निर्वहन के लिये प्रशिक्षण एवं आवश्यक तथ्यों का ज्ञान कराने से है। नेतृत्व प्रशिक्षण की अभिधारणा मूलतः दो बातों पर आधारित है–1– प्रजातंत्र में प्रत्येक व्यक्ति नेता हो सकता है यदि उसे अनुकूल परिस्थिति मिल जाय। 2– नेता जन्मजात होते हैं जो जन्म से ही नेतृत्व के गुणों को लेकर पैदा हुआ है वह नेता बनकर ही रहेगा।

2 नेतृत्व प्रशिक्षण की प्रमुख विधियाँ हैं

1– **भाषण विधि :** भाषण विधि में नेता अपने समूह सदस्यों को एक जगह भाषण देता है व समस्या समाधान और उसके विभिन्न विकल्पों की चर्चा करता है।

2– **सम्मेलन विधि :** इस विधि में नेता व समूह सदस्य आपस में विचार विमर्श व अन्तःक्रिया करते हैं। इससे उन्हें नये–नये अनुभव प्राप्त होता है।

3– **समस्या चर्चा विधि :** इसमें भी एक विशेषज्ञ होता है तथा विशेषज्ञ व प्रशिक्षण प्राप्त करने वाले नेता आपस में विचार विमर्श व अन्तःक्रिया करते हैं

4–**भूमिका निवाह विधि :** इस विधि का उद्‌गम् स्रोत मनोनाटक है यह विधि इस अभिधारणा पर आधारित है कि जब हम कोई चीज करके सीखते हैं तो वह अधिक मजबूत व टिकाऊ होती है।

अपनी प्रगति जांचें 4

1– नेता जब इस बात को मानने लगता है कि समूह का मनोबल व उत्पादकता स्तर ठीक है व समूह की क्रियायें ठीक ढ़ंग से संचालित हो रही हैं तो ये कारक नेतृत्व प्रशिक्षण को बाधित करते हैं प्रशिक्षण प्रक्रियाओं के प्रति मनोवृत्ति का अनुकूल न होना भी एक प्रमुख कारक है।